उ. प्र. हि. ग्र. अ. प्रकाशन—180

भारतीय पुरैतिहासिक पुरातत्त्व



लेखक

धर्मपाल अग्रवाल एवं पन्नालाल अग्रवाल



प्रकाशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी

लखनऊ

प्रकाशक
ब्रह्मदत्त दीक्षित
निदेशक
उत्तर प्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी
लखनऊ

शिक्षा एवं समाज-कल्याण मंत्रालय,
भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय
ग्रंथ योजना के अंतर्गत प्रकाशित

प्रथम संस्करण
1975

मूल्य : 15 रुपये

पुनरीक्षक :
डॉ० किरण कुमार थपल्याल
लखनऊ विश्वविद्यालय,
लखनऊ

मुद्रक :
सरयू प्रसाद पांडेय
नागरी प्रेस
दारागंज, इलाहाबाद

लता

और

शशि

को

सर्मपित

प्रस्तावना

शिक्षा आयोग (1964 : 66) की संस्तुतियों के आधार पर भारत सरकार ने 1968 में शिक्षा संबंधी अपनी राष्ट्रीय नीति घोषित की और 18 जनवरी, 1968 को संसद के दोनों सदनों द्वारा इस संबंध में एक संकल्प पारित किया गया। उस संकल्प के अनुपालन में भारत सरकार के शिक्षा एवं युवक सेवा मंत्रालय ने भारतीय भाषाओं के माध्यम से शिक्षण की व्यवस्था करने के लिए विश्वविद्यालय स्तरीय पाठ्य पुस्तकों के निर्माण का एक व्यवस्थित कार्यक्रम निश्चित किया। उस कार्यक्रम के अंतर्गत भारत सरकार की शत प्रतिशत सहायता से प्रत्येक राज्य में एक ग्रंथ अकादमी की स्थापना की गयी। इस राज्य में भी विश्वविद्यालय स्तर की प्रामाणिक पाठ्य पुस्तकें तैयार करने के लिए हिंदी ग्रंथ अकादमी की स्थापना 7 जनवरी 1970 को की गयी।

प्रामाणिक ग्रंथ निर्माण की योजना के अंतर्गत यह अकादमी विश्वविद्यालय स्तरीय विदेशी भाषाओं की पाठ्य पुस्तकों को हिंदी में अनूदित करा रही है और अनेक विषयों में मौलिक पुस्तकों की भी रचना करा रही है। प्रकाश्य ग्रंथों में भारत सरकार द्वारा स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग किया जा रहा है।

उपर्युक्त योजना के अंतर्गत वे पांडुलिपियां भी अकादमी द्वारा मुद्रित करायी जा रही हैं जो भारत सरकार की मानक ग्रंथ योजना के अंतर्गत इस राज्य में स्थापित विभिन्न अभिकरणों द्वारा तैयार की गयी थीं।

प्रस्तुत पुस्तक इस योजना के अंतर्गत मुद्रित एवं प्रकाशित करायी गयी है। इसके लेखक धर्मपाल अग्रवाल एवं पन्नालाल अग्रवाल हैं। इसका विषय संपादन

डा० किरन कुमार थपल्याल लखनऊ विश्वविद्यालय ने किया है। इन विद्वानों के इस बहुमूल्य सहयोग के लिए हिंदी ग्रंथ अकादमी उनके प्रति आभारी है।

मुझे आशा है कि यह पुस्तक विश्वविद्यालय के छात्रों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होगी और इस विषय के विद्यार्थियों तथा शिक्षकों द्वारा इसका स्वागत अखिल भारतीय स्तर पर किया जायगा। उच्चस्तरीय अध्ययन के लिए हिंदी में मानक ग्रंथों के अभाव की बात कही जाती रही है। आशा है कि इस योजना से इस अभाव की पूर्ति होगी और शिक्षा का माध्यम हिंदी में परिवर्तित हो सकेगा।

हजारी प्रसाद द्विवेदी
अध्यक्ष,
शासी मंडल
उ० प्र० हिंदी ग्रंथ अकादमी

प्राक्कथन

स्वतंत्रता के बाद प्रागैतिहासिक और पुरैतिहासिक पुरातत्व के क्षेत्र में बहुत सी खोजें हुई हैं। अनेक स्थलों का उत्खनन हुआ है। पत्र पत्रिकाओं ने भी इन खोजों का काफी प्रचार किया है। फलस्वरूप, हिंदी का साधारण पाठक और बुद्धिजीवी पुरातत्व में विशेष रुचि लेने लगा है। दूसरी ओर, आज अधिकांश हिंदी-भाषी क्षेत्र के विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर शिक्षा का माध्यम हिंदी हो चुका है। अधिकांश खोजें अभी हाल ही की हैं। हिंदी में इन सब नयी खोजों के आधार पर लिखित प्रामाणिक पुस्तकों का अभी अत्यन्त अभाव है, विशेषतया पुरैतिहासिक काल के लिए। प्रस्तुत पुस्तक हिंदी में ऐसी पुस्तकों के अभाव की पूर्ति की दिशा में एक प्रयास है।

आज पुरातात्विक अनुसंधान अनेक भौतिक और जैविक विज्ञानों की सहायता लेता है। ये खोजें बहुमुखी व बहुआयामीय होती जा रही हैं। इसीलिए हमने इस पुस्तक में तकनीकी, पारिस्थितिकीय और कालानुक्रमिक तथ्यों के परिवेश में एक पुरैतिहासिक पुरातात्विक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इस अध्ययन का क्षेत्र संपूर्ण भारत-पाक महाद्वीप है, और काल-विस्तार लगभग 3000 से 300 ई० पू० तक है। लेखक स्वयं इन क्षेत्रों के कार्यरत शोधकर्त्ता हैं, अतः उन्हें यह विविध सामग्री और अधुनातन प्रमाण जुटाने में सुविधा रही। इस पुस्तक में अधुनातन खोजों और पुस्तक प्रकाशन के बीच की दूरी को मिटाने का प्रयास किया गया है। इस प्रयास में हम कहां तक सफल हुए हैं इसका निर्णय पाठकों को करना है।

मुख्यतया हमारा लेखन अभी तक अंग्रेजी भाषा में सीमित रहा है। परंतु फिर भी हिंदी भाषी होने के कारण हमें विश्वास है कि इस पुस्तक में हमने हिंदी के प्रति अन्याय नहीं किया है। हिंदी के इस प्रथम प्रयास में कमियां रहना स्वाभाविक है; हमारा पाठकों से अनुरोध है कि वे अपने सुझावों से

इस पुस्तक की भाषा सुधारने में हमें सहयोग दें। विषय तकनीकी है परंतु हमने साधारण पाठक तक पहुँचने की कोशिश की है।

इस कृति की रचना में इतने विद्वानों और मित्रों ने सहायता की है कि सब का अलग से नाम लेकर धन्यवाद देना बहुत कठिन है। हम इन सब के आभारी हैं। हम विशेषतया ऋणी हैं प्रो० एम० जी० के० मेनन और प्रो० देवेन्द्र लाल के, जिनके विशेष प्रोत्साहन से ही आज भारत में कार्बन तिथिकरण और अनेक भौतिक तकनीकों का पुरातत्व में प्रयोग हो रहा है। सर मार्टिमर व्हीलर, प्रो० सांकलिया, प्रो० ब्रजबासी लाल, श्री० एम० एन० देशपांडे, प्रो० गोवर्धनराय शर्मा, प्रो० एलचिन, डा० कृष्ण कुमार सिन्हा आदि की विशद् पुरातात्विक खोजों के समावेश के बिना इस पुस्तक की सामग्री आधी भी नहीं रह जाती। भारतीय पुरातत्व और हम सब इन विद्वानों के आभारी हैं।

नयी पीढ़ी के मित्र-पुराविदों में डा० स्वराज्य गुप्ता, श्री मुनीश जोशी, श्री राजेन्द्र कुमार पंत, श्री कैलाश नाथ दीक्षित, श्री ब्रजमोहन पांडे, श्री रामचन्द्रन आदि ने महत्वपूर्ण योग दिया। हम कु० शीला कुसुमगर, श्रीमती विभा त्रिपाठी, कु० अमिता मिश्र और श्री पूरन सिंह नेगी और श्री प्रेम प्रकाश के विशेष आभारी हैं जिन्होंने अनेक प्रकार से इस प्रयास में सहायता दी है। इन सब मित्र-स्वजनों का हम धन्यवाद करते हैं।

श्री ब्रह्मदत्त दीक्षित, निदेशक हिंदी ग्रंथ अकादमी, के व्यक्तिगत प्रयत्नों के बिना इस पुस्तक का न यह रूप संवरता और न इतना शीघ्र प्रकाशन हो पाता। उनके हम विशेष आभारी हैं।

2 अक्टूबर, 1973

पी० आर० एल० क्वार्टर्स,
नवरंगपुरा,
अहमदाबाद-380009

धर्मपाल अग्रवाल
पन्नालाल अग्रवाल

विषय-सूची

अध्याय		पृष्ठ

अध्याय		पृष्ठ

अध्याय पृष्ठ

अध्याय		पृष्ठ

●

आरेख शीर्ष

तालिका शीर्ष



अध्याय 1

भूमिका

कुछ वर्ष पहले तक भारतीय पुरातत्व का अर्थ केवल पुरालिपियों का एवं, कला-इतिहास और सिक्कों का अध्ययन ही माना जाता था। परंतु अब, विशेष रूप से स्वतंत्रता के बाद, प्रागैतिहासिक और पुरैतिहासिक पुरातत्व पर इतना अधिक महत्व दिया जाने लगा है कि आजकल पुरातत्व प्रागैतिहासिक अध्ययन का पर्याय हो गया है। सिंधु सभ्यता 1922 में ज्ञात हो चुकी थी, और यह अनुमान था कि यह लगभग 1500 ई० पू० तक जीवित रही, परंतु ऐतिहासिक काल केवल पांचवीं सदी के लगभग प्रारंभ होता है। सिंधु सभ्यता के अंत से पांचवीं शताब्दी ई० पूर्व के काल की संस्कृतियों के बारे में कोई प्रामाणिक जानकारी न थी। इसीलिए इसे अंधयुग कहते थे। 1947 के बाद मुख्य उत्खनन प्रागैतिहासिक एवं पुरैतिहासिक स्थलों पर ही हुए। फलतः आज यह तथाकथित अंधयुग काफी प्रकाशमान हो चुका है। बल्कि इससे पूर्वकालीन पाषाण-काल के बारे में भी आज पहले की अपेक्षा कहीं अधिक जानकारी है। अब यह स्पष्ट हो गया है कि ऐतिहासिक और साहित्यिक स्रोतों के आधार पर बनाया गया इतिहास भारत में मानव के भूतकाल का एक बहुत ही छोटा सा अंश है। विशेषतः पिछले बीस वर्षों की खोजों से यह प्रकट हो गया कि भारतीय मानव के उस कहीं लंबे इतिहास का पुनर्निर्माण करने के लिए, जो पांचवीं शती ईसा पूर्व से लाखों साल पहले तक फैला है, पुरातत्व को बहुत से दूसरे विषयों और तकनीकों का सहारा लेना पड़ेगा। विश्व में आज पुरातत्व एक बहुमुखी और बहुविषयक शास्त्र के रूप में विकसित हो रहा है।

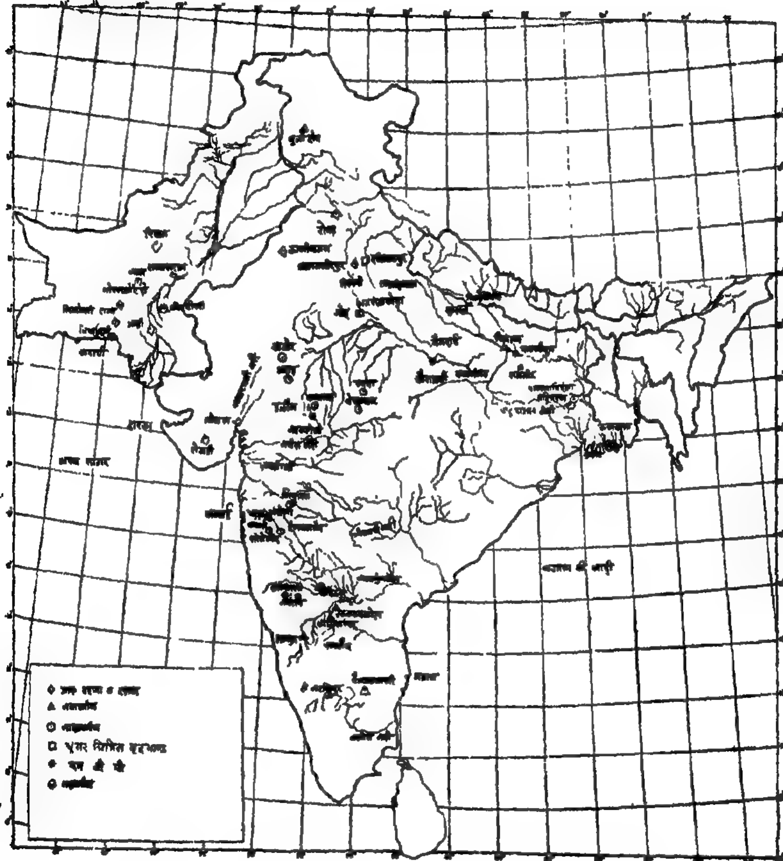
पिछले दस साल में रेडियो कार्बन तिथिकरण प्रयोगशाला के प्रसंविदा के घनिष्ठ संपर्क में आने से भौतिकी तथा अन्य विज्ञान भारतीय पुरातत्व के बहुत नजदीक आये हैं। प्रागैतिहासिक काल के पुनर्निर्माण के लिए केवल भौतिक अवशेषों और उपकरणों का सहारा लेना पड़ता है। ये अवशेष पुरालेखों की

तरह बोलते नहीं हैं। इनकी चुप्पी तोड़ने के लिए विज्ञान का सहारा लेना पड़ता है। इन बहुमुखी अध्ययनों की तीन मुख्य दिशाएं हैं। सर्वप्रथम, एक निरपेक्ष कालानुक्रम की आवश्यकता है, जिसके चौखटे में ही बिखरे हुए अपार पुरातात्विक प्रमाणों को संजोया और समझा जा सकता है। आज अनेक वैज्ञानिक विधियां काल निर्धारण के लिए प्राप्त हैं। दूसरी आवश्यकता है विभिन्न संस्कृतियों के तकनीकी ज्ञान के अध्ययन की। बिना तकनीकी अध्ययन के हम उन लुप्त संस्कृतियों के संगठन, आर्थिक ढांचे, धर्म, सामाजिक व्यवस्था, युद्ध शैलियों आदि के विषय में कुछ भी जानकारी प्राप्त नहीं कर सकते। इस प्रकार के अध्ययनों के लिए अनेक भौतिक और रासायनिक तकनीकों का प्रयोग करना पड़ता है। तीसरी दिशा है पारिस्थितिकी के अध्ययन की। पारिस्थितिकी का बहुत गहरा प्रभाव संस्कृतियों के जन्म, विकास और ह्रास में होता है। वस्तुतः संस्कृति किसी जन समूह के तकनीकी ज्ञान और शिल्प की और तत्कालीन पारिस्थितिकी के बीच पारस्परिक क्रिया का फल है। पारिस्थितिकी के अध्ययन में भी अनेक जीव और भौतिक शास्त्र अपना योगदान करते हैं।

आज भारतवर्ष में अनेक उच्च वैज्ञानिक संस्थाएँ, उदाहरणार्थ भाभा अणुकेन्द्र, बंबई, टाटा इंस्टीट्यूट आफ फंडामैंटल रिसर्च, बंबई, फिजीकल रिसर्च लैब्रोटरी, अहमदाबाद, आदि भारतीय पुरातत्व के क्षेत्र में भी बहुत महत्वपूर्ण योगदान दे रही हैं। पिछले दस-बारह साल में टाटा इंस्टीट्यूट और फिजीकल रिसर्च लैब ने सैकड़ों रेडियो कार्बन तिथियाँ निर्धारित करके अनेक प्राचीन संस्कृतियों (आरेख 1) का कालविस्तार निश्चित किया है। भाभा अणुकेन्द्र में प्राचीन धातु कर्म के अध्ययन के लिए अनेक वैज्ञानिक सुविधाएँ प्राप्त हैं, जिनका प्रयोग हमने व दूसरे अनुसंधानकर्ताओं ने किया है। अनेक पुरावनस्पति-वैज्ञानिकों ने भी पराग एवं अन्य वानस्पतिक अवशेषों के आधार पर भूतकाल की वनस्पति, जलवायु, कृषि एवं भोजन संबंधी अनेक तथ्यों पर प्रकाश डाला है। अगले अध्यायों में हमने भारतीय पुरैतिहासिक काल का एक बहुमुखी एवं बहु-आयामिक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

दूसरे अध्याय में हमने पूरे भारत-पाक उपमहाद्वीप की पुरैतिहासिक संस्कृतियों की पारिस्थितिकी के परिवेश का अध्ययन किया है। उत्तर-पश्चिम के ईरानी क्षेत्र से लेकर दक्कन के पठारी प्रदेश की पारिस्थितिकी एवं उसके भौगोलिक तथ्यों का विवेचन इस अध्याय में दिया गया है। इसमें संस्कृतियों की विभिन्नता और विशिष्टताओं पर पारिस्थितिकी के प्रभाव का अध्ययन किया

गया है। इस अध्याय में सिंधु-सभ्यता के उद्भव और अंत पर विभिन्न मतों का विशद विवेचन भी किया गया है।



आरेख 1

मुख्य पुरैतिहासिक स्थल जिनका कार्बन तिथिकरण हो चुका है।

तीसरे अध्याय में ताम्राश्मीय संस्कृतियों की पुरातात्विक सामग्री का अध्ययन किया गया है। इसके अंतर्गत विभिन्न संस्कृतियों के स्थलों के उत्खननों का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। अंत में इस पुरातात्विक सामग्री के अध्ययन से जो समस्याएँ उभरती हैं उन पर विचार किया गया है।

कालानुक्रम और तिथि निर्धारण पर चौथे अध्याय में विचार किया गया है। इस अध्याय में प्राग्हड़प्पा से लेकर ताम्राश्मीय एवं ताम्र संचय संस्कृतियों के कालानुक्रम का विवेचन पुरातात्त्विक एवं कार्बन तिथियों के आधार पर किया गया है। हाल में प्राप्त दोआब के गेरुए भाण्ड की तापसंदीप्तिक तिथियां भी इस अध्याय में दी गयी हैं।

अध्याय पांच में लौहकालीन संस्कृतियों की पुरातात्त्विक सामग्री एवं कालानुक्रम का अध्ययन साथ-साथ किया गया है। इस अध्याय में पश्चिम में स्वात घाटी से लेकर दक्षिण की महाश्मीय संस्कृतियों तक का विवेचन किया गया है।

छठे अध्याय में धातु-कर्म का विवेचन प्रस्तुत है। इस अध्याय में धातु-कर्म के उद्‌भव, विकास और संचरण का, पूरे विश्व की पृष्ठभूमि में, विशद वर्णन किया गया है। इसमें विभिन्न संस्कृतियों के तकनीकी ज्ञान और उनके द्वारा विभिन्न अयस्क भंडारों के सम्भावित प्रयोग पर भी विचार किया गया है। इस अध्ययन का विशेष लाभ यह है कि उनके तकनीकी ज्ञान के वैभिन्न्य के आधार पर पुरैतिहासिक संस्कृतियों के संपर्क एवं अलगाव को समझा जा सकता है। ताम्र बाहुल्य का नागरीकरण पर प्रभाव भी दर्शाया गया है।

सातवें और अंतिम अध्याय में पिछले छह अध्यायों के प्रमाणों का सारांश दिया गया है और पिछले अध्यायों में विवेचित सामग्री का संश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। अंततोगत्वा इन सब अध्ययनों का लक्ष्य पुरैतिहासिक काल की संस्कृतियों की पुनर्रचना करना है। इसीलिए इस सब पुरातात्त्विक सामग्री पर आधारित पुनर्रचनाएं भी प्रस्तुत की गयी हैं।



अध्याय 2

पारिस्थितिकी, भूगोल तथा संस्कृतियां

पुरैतिहासिक संस्कृतियों के प्रादुर्भाव, विकास व परस्पर वैभिन्न्य में उनके तकनीकी स्तर का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। पर किसी संस्कृति में उसकी तकनीकी क्षमता के प्रभाव को उसकी पारिस्थितिकी से अलग करके नहीं समझा जा सकता। कार्नवाल के कथनानुसार प्रारम्भिक मानव समाजों का अध्ययन हम उनकी सांस्कृतिक सज्जा तक सीमित नहीं रख सकते। वे एक ऐसे वातावरण में रहते थे जिसमें प्राकृतिक सम्पदा के बुद्धिमत्तापूर्ण और परिश्रम-युक्त उपयोग के करने पर उनको भोजन, कपड़ा, आश्रय व दैनिक जीवन की वस्तुएँ उपलब्ध होती थीं। प्राचीन जीवन के कार्य-कलापों को समझने के लिए हमें उनकी पारिस्थितिकी को दृष्टि में रखना होगा। व्हाइट और रैना के अनुसार कोई भी महत्वपूर्ण मानवीय कार्यकलाप पारिस्थितिकी की सहायता अथवा विघ्न या निदेश से अछूती नहीं। हमारे देश में पूर्व-पश्चिम दिशाओं की ओर बहने वाली नदियों ने उत्तर व दक्षिण वासियों के अबाध आदान-प्रदान को अवरुद्ध कर दिया, जिसके फलस्वरूप पूरे इतिहास में राष्ट्रीय एकता की भावना नहीं पनप पायी।

यद्यपि पारिस्थितिकी ने मानव के भाग्य निर्माण में मुख्य भूमिका निभायी पर तकनीकी विकास ने ही मानव को उसके वातावरण की अनेक बंदिशों से मुक्त किया। रिचर्ड, के० एम० पान्निकर, एम० बी० पीठावाला, ओ० ए० के० स्पेट आदि विद्वानों ने भारतीय संस्कृति के प्रारूप व विकास में पारिस्थितिकी की गहरी छाप देखी। पर सर्व प्रथम कोसंबी ने ही एक निश्चित पारिस्थितिकी के परिवेश में तकनीकी क्षमता की भूमिका के महत्व पर जोर दिया। सुब्बाराव ने भी पारिस्थितिकी के आधार पर समवेत भारतीय व्यक्तित्व की व्याख्या की। उन्होंने भारत-पाकिस्तान उपमहाद्वीप को तीन क्षेत्रों में विभाजित किया है—

1—शाश्वत आकर्षण के केन्द्र, जिनके अंतर्गत मालवा, पंजाब, दोआब और दक्षिणी पठार शामिल हैं।

2—अलगाव के क्षेत्र—छोटा नागपुर का जंगली पठार, विंध्याचल और अरावली की पहाड़ियां इस क्षेत्र के अंतर्गत हैं।

3—आपेक्षित अलगाव के क्षेत्र गुजरात व सिंध माने गये है।

1958 तक प्राप्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर यह एक सुसंगत विवेचना थी। पर सुब्बाराव की पुस्तक की प्रस्तावना में ह्वीलर ने शंका व्यक्त की कि अब से कुछ वर्ष बाद ही इसे पुनः लिखना होगा, अच्छा हो कि डा० सुब्बाराव स्वयं ही इसे फिर लिखें। दुर्भाग्यवश डा० सुब्बाराव नहीं रहे। अन्य पुराविदों ने संस्कृति पर पारिस्थितिकी के प्रभाव पर विशेष ध्यान नहीं दिया। सुब्बाराव ने मत व्यक्त किया था कि आरंभ में समुचित वर्षा वाले क्षेत्र ही खेती के लिए साफ किये गये थे। इस प्रकार उन्होंने पारिस्थितिकी व मानव प्रयत्नों के बीच संबंध स्थापित करने का प्रयत्न किया। पर पारिस्थितिकी स्वयं मानव प्रयत्नों द्वारा कैसे बदल दी जाती है, इसका मूल्यांकन वे नहीं कर पाये। उदाहरणार्थ दोआब को उन्होंने शाश्वत आकर्षण केन्द्र के अंतर्गत रखा जो उचित नहीं, क्योंकि आदिकाल से ताम्रयुग तक यह क्षेत्र मानसूनी घने जंगल होने के कारण आकर्षण का केन्द्र नहीं था। कालांतर में लोहे की तकनीक के आविष्कार के फलस्वरूप मानव ने प्रचुर मात्रा में लोहे के उपकरण बनाये और वह इन घने जंगलों को साफ कर नयी बस्तियों को बसाने में समर्थ हुआ और इस प्रकार यह क्षेत्र कालांतर में आकर्षण केन्द्र में बदल गया।

सुब्बाराव ने सदानीरा सिंधु नदी के क्षेत्र को, जिसने महान् हड़प्पा सभ्यता को जन्म दिया, आपेक्षिक अलगाव के क्षेत्र में रखा। सिंधु जैसी पारिस्थितिकी के क्षेत्रों में ही संसार की महान् सभ्यताओं का प्रादुर्भाव हुआ और वे विकसित हुईं। सदियों से नील, दजला-फरात व सिंधु नदियां प्रतिवर्ष बाढ़ द्वारा लायी हुई उपजाऊ मिट्टी अपने तटवर्ती प्रदेशों में बिछाती रहीं और उन्हें सींचती रहीं। ऐसी घाटियों में कृषि उत्पादन बढ़ा, जिसके फलस्वरूप अतिरिक्त उत्पादन संभव हुआ। इस उत्पादन में जनसंख्या और साधनों का भी विशेष योगदान है।

इसी प्रकार नर्मदा नदी की संकरी व जंगलों से आच्छादित ऊंची घाटियों को शाश्वत आकर्षण केन्द्र नहीं कहा जा सकता। ऐसी पारिस्थितिकी में विस्तृत खेतिहर बस्तियां संभव न थीं।

पुरैतिहासिक संस्कृतियों की पारिस्थितिकी को समझे बिना सभ्यताओं के जन्म व विकास में पारिस्थितिकी व तकनीकी ज्ञान के परस्पर योग का मूल्यांकन हम नहीं कर सकते। परंतु अब तक प्राप्त प्राचीन वानस्पतिक प्रमाण उस पारिस्थितिकी के अध्ययनार्थ नगण्य ही हैं।

पारिस्थितिकी की दृष्टि से तत्कालीन क्षेत्रों को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

I—पाकिस्तानी-ईरानी सीमा क्षेत्र।

II—सिंध-पंजाब व राजस्थानी क्षेत्र।

III–दोग्राब।

IV—मध्यवर्ती पठार।

I—पाकिस्तानी ईरानी सीमा क्षेत्र

भौतिक रचना की दृष्टि से अफगानिस्तान व बलूचिस्तान समान हैं। पश्चिमी मध्य एशिया से आने वाली हवा उत्तर से दक्षिण में फैली पर्वतमालाओं के कारण, इन घाटियों में पहुँच जाती है और दक्षिण पर्वतमालाएं दक्षिणी पूर्वी हवाओं को रोक देती हैं। बलूचिस्तान मानसूनी हवाओं के प्रभाव क्षेत्रों से बाहर पश्चिम में पड़ता है। यहाँ वर्षा शीत ऋतु में भूमध्य सागरीय ठंडी हवाओं से होती है; औसत वार्षिक वर्षा 10″ है। अतः इस क्षेत्र का जलवायु सिंध व पंजाब की अपेक्षा ईरान जैसा है। अर्ध-शुष्क जलवायु के कारण लोगों का मुख्य उद्यम खेती-बारी व पशुपालन रहा है। बस्तियाँ पूर्वी व उत्तरी भागों में केन्द्रित हैं। क्वेटा व पिशिन क्षेत्र में पैदावार के लिए पानी कठिनाई से ही पूरा हो पाता है। शुष्क जलवायु के कारण व समुद्री हवाओं से अछूता रहने से इस क्षेत्र का अधिकांश भाग रेगिस्तानी है।

नदियों के तट संकरे व ऊँचे हैं। अतः बाढ़ निर्मित मैदान कुछ ही क्षेत्रों में सीमित हैं और बहुत संकरे हैं। नदियों से सिंचाई पठारी क्षेत्र में अधिक होती है। कहीं-कहीं कुओं का भी प्रयोग होता है पर अधिकांशतः शुष्क खेती (खुश्काव) पर निर्भर है। दुर्गम व शुष्क पहाड़ों ने मानव संपर्क को कठिन व यातायात को असंभव बना दिया था, फलस्वरूप यहाँ की पारिस्थितिकी ने विविध संस्कृतियों को जन्म दिया। दूसरी ओर हड़प्पा सभ्यता की एकरूपता का कारण संभवतः उस क्षेत्र की पारिस्थितिकी की थी।

इस क्षेत्र में आज की अपेक्षा बड़ी संख्या में प्राचीन टीले व बाँध मिले हैं। अतः स्टाईन ने वर्तमान काल की अपेक्षा पुरैतिहासिक काल में अधिक आर्द्रता की परिकल्पना की थी। राइक्स, डाइसन व फेयर सर्विस के अनुसार जहाँ भी आज भूमि उपजाऊ है और पानी है वहाँ इन घाटियों में प्राचीन स्थल मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि वर्तमान क्वेटा की जलवायु व पारिस्थितिकी पुरैतिहासिक काल से अब तक बदली नहीं है।

ऋतु-प्रवास आज भी अनेक क्षेत्रों में सामान्य जीवन का एक अंग है, जिस पर स्टाईन ने अधिक ध्यान नहीं दिया। अल्प वर्षा व शीत ऋतु की कठोर ठंड यहां के जन जीवन को मौसमी स्थानान्तर के लिए विवश कर देती थी। शुष्क खेती पर आधारित अनिश्चित जीवन यापन, मानव को यायावर जीवन की शरण में डाल देता था। इस प्रकार प्राकृतिक शुष्कता व कठोरता के कारण अनेक बस्तियों व टीलों का जन्म हुआ, न कि आबादी की अधिकता के कारण।

स्टाईन के मतानुसार प्रचुर मात्रा में पानी रोकने के लिए विशाल शिला-खण्डों से निर्मित बांधों को बनाने के लिए अपार जन-शक्ति का प्रयोग किया गया होगा। परंतु राइक्स ने हिसाब लगाया कि एक शिलाखण्ड 60 × 100 × 150 सेन्टीमीटर के आकार का, दो टन भार का होगा, जिसे एक साथ एक बार उठाने के लिए लगभग साठ व्यक्ति लगेंगे। कैसे केवल एक घन मीटर पत्थर को उठाने के लिए इतने हाथ लग सकते थे ? अतः स्पष्ट है कि उत्तोलक का प्रयोग किया गया होगा। इतने भारी पत्थरों का उपयोग उनकी कार्यपटुता व निपुणता का द्योतक है न कि अपार जन संख्या का। राइक्स के मतानुसार ये निर्माण कार्य बांध नहीं थे क्योंकि बांध की किसी भी कसौटी पर ये ठीक नहीं उतरते। ये खेतिहर भूमि को बांधने के लिए पार्श्वतल थे। "इस प्रकार के पार्श्वतल सभी शुष्क क्षेत्रों की विशेषताएं हैं। इस विशेष प्रकार के पार्श्वतलों की उत्पत्ति आकस्मिक बाढ़ों अथवा पहाड़ों की नंगी पीठों से स्थानीय बाढ़ों के कारण होती थीं।"

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट होता है कि इस क्षेत्र का जलवायु भूतकाल में अधिक शुष्क नहीं था। वस्तुतः एक विशिष्ट प्रकार की पारिस्थितिकी ने जहां एक ओर विविध संस्कृतियों को जन्म दिया वहां दूसरी ओर विशाल बस्तियों के प्रादुर्भाव में सहायता नहीं की। यह उल्लेखनीय है कि मुन्डीगाक काल III में मृद्भांड रचना में बहुरंगी व द्विरंगी परंपरा एक साथ मिलती है। कालांतर में यह परंपरा विभाजित हो गयी। उच्च प्रदेश के निवासी नाल लोगों ने पशु-पालन व मिश्रित कृषि के साथ बहुरंगी मृद्भांड परंपरा को अपनाया लेकिन पहाड़ों की उपत्यकाओं व सिंध के मैदान में उतरने वाले आम्री लोगों ने द्विरंगी मृद्भांड परंपरा प्रारंभ की और अंततोगत्वा सिंध के नागरीकरण और सभ्यता की उत्पत्ति में अपना अंश दान किया।

II : सिंध पंजाब व राजस्थान क्षेत्र

पारिस्थितिकी जहां विकास का मार्ग खोल सकती है वहां उसे अवरुद्ध भी कर सकती है। इसीलिए किसी संस्कृति व सभ्यता की पारिस्थितिकी के ज्ञान के

बिना उसके प्रादुर्भाव व विकास को समझना कठिन है। इस प्रकार हड़प्पा संस्कृति के प्रादुर्भाव, व्यापक विस्तार व विकास को भी उसके पारिस्थतिकीय परिवेश के अंतर्गत ही समझना होगा।

हड़प्पाकालीन पारिस्थितिकी के संबंध में विभिन्न मत हैं जिनकी हम नीचे विवेचना करेंगे —

क—निरंतर बढ़ती हुई शुष्कता का सिद्धांत और सिंध सभ्यता का अंत।

काश्कोई, झालावान, सारावान आदि स्थानों में प्रचुर संख्या में पाये गये बांधों के आधार पर स्टाईन इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि पुरैतिहासिक काल में जलवायु उस समय के मानव के अधिक अनुकूल थी और भूमि की उर्वरता अधिक जनसंख्या का परिपालन कर सकती थी। उन्हें लगा कि इस प्रदेश से प्राप्त अनेक बांध, टीले व अन्य सामग्री तत्कालीन सांस्कृतिक स्थिरता की द्योतक हैं और निरंतर बढ़ती हुई शुष्कता की भी।

पिग्गट और व्हीलर के मतानुसार शुष्कता सिंध की घाटी में भी निरंतर बढ़ती गयी। पिगट ने कहा कि पशुजीवन, लाखों ईंटों को पकाने के लिए लकड़ी व उन्नत और व्यापक कृषि वर्तमान काल से भिन्न जलवायु दर्शाती है। जबकि मोहनजोदड़ो में आजकल वार्षिक सीमांकन ग्रीष्म काल में 120°F व शीत ऋतु में पाले के बिंदु के मध्य हैं और वार्षिक वर्षा औसतन 6″ हैं।

पक्की ईंटों का प्रयोग अधिक वर्षा के कारण अधिक टिकाऊ सामग्री की आवश्यकतावश ही हो सकता है। इसी प्रकार शहर की विस्तृत जल-निकास व्यवस्था, व्यापक वर्षा के पानी के प्रसंग में ही समझी जा सकती है। पिगट के मतानुसार सिंध की मोहरों में अंकित गेंडा, हाथी, दरयाई घोड़ा आदि जानवर, जो अब विलुप्त हो गये हैं, भूतकाल में अधिक आर्द्रता के द्योतक हैं। व्हीलर ने भी कहा है कि विस्तृत जंगल व बीच-बीच में फैले दल-दल हाथी, शेर, गेंड़ों व मगरमच्छ से भरे पड़े थे, जिनका अंकन विशिष्ट रूप से सिंध की मोहरों में मिलता है।

प्राप्त प्रमाणों के आधार पर हम नीचे उपयुक्त मतों की विवेचना करेंगे।

(1) जलवायु संबंधी प्रमाण

निरंतर बढ़ती शुष्कता के सिद्धांत की सर्वप्रथम फेयरसर्विस ने आलोचना करते हुए स्पष्ट किया था कि सिंध तटीय जंगल बबूल, झाऊ, कंडो, शीशम और बेहन के वृक्षों के थे। इनमें से झाऊ, कंडी, बबूल व अन्य दूसरे पेड़ आज भी ईंधन में प्रयोग किये जाते हैं। पीठावाला के कथनानुसार सिंधु तटीय जंगल

बाढ़ के पानी से सिंचित और विकसित हुए, न कि वर्षा के कारण। उन्होंने यह भी बताया कि मोहनजोदड़ो के नये संग्रहालय व डाक-बँगलों की ईंटें स्थानीय मिट्टी की बनी हैं जिन्हें कंडो की लकड़ी की आँच में खूब आसानी से पकाया गया है। इसी प्रकार भूतकाल में भी किया गया होगा। कंडो की लकड़ी वहाँ बहुतायत से होती है जो कि अन्य ईंधनों से अधिक ताप देती है। राइक्स और डाइसन के मतानुसार हड़प्पा काल में भी आज की भाँति ईंटों को पकाने के लिए स्थानीय लकड़ी का प्रयोग किया जाता था। 1908 ई० तक लकड़ी यहाँ से निर्यात तक होती रही। मोहनजोदड़ो के शहर में प्रयुक्त ईंटों को पकाने के लिए लकड़ी की आवश्यकता के विषय में उन्होंने कहा है कि प्रत्येक बार शहर के पुन: निर्माणार्थ ईंधन 400 एकड़ के तटीय जंगल से पर्याप्त होता रहा होगा। 140 वर्ष के औसतन अंतर से पुन: निर्माण होने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि 400 एकड़ का क्षेत्र आवश्यकतानुसार प्रत्येक बार उपयोग होता रहा होगा।

हड़प्पा में मिले वानस्पतिक अवशेषों का विश्लेषण कर घोष और चौधरी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि लकड़ी के अवशेष इस सिद्धांत की पुष्टि नहीं करते कि आर्द्र-ऊष्ण कटिबंधी जंगल हड़प्पा के आसपास फैले थे। यहाँ तक कि देवदारु व चीड़ की इमारती लकड़ी भी उत्तरी पर्वतों से प्राप्त की गयी थी। अन्य प्रमाणों से भी यह स्पष्ट होता है कि लंबी घास वाली और झाड़ियों वाले जंगल व कहीं-कहीं दलदली क्षेत्र हड़प्पा में या उसके निकट थे। इस प्रदेश मे उगायी जाने वाली कपास इस बात का प्रमाण है कि पुरैतिहासिक जलवायु भी वर्तमान जैसी ही थी।

पहले ही उल्लेख किया जा चुका है कि व्हीलर व पिगट ने पुरैतिहासिक काल के हड़प्पा संस्कृति में पाये जाने वाले पशुओं के आधार पर निरंतर बढ़ती हुई शुष्कता के सिद्धांत की पुष्टि की थी। इसके विपरीत फेयरसर्विस का कथन है कि बिना किसी अपवाद के कहा जा सकता है कि हड़प्पा संस्कृति से संबंधित जीव-जगत् चरागाह व खुले जंगलों पर निर्भर था। ऐसे क्षेत्र-कृषि व पालतू जानवर दोनों के लिए बहुत उपयुक्त थे। इनकी सफाई जंगली जानवरों के विनाश का कारण हो सकी।

सिंधु नदी के ऊपरी क्षेत्र में बांध पाये जाते हैं। नदी किनारे की ऊँची-ऊँची घास व घनी झाड़ियाँ सँधवों के लिए शिकार, छाया व पानी तीनों की आवश्यकता पूरी करती थीं। 300 वर्ष पूर्व तक गेंडा इस क्षेत्र में मिलता था जो घनी घास व दलदल में रहना पसंद करता है। ऐसे ही नेवला और भैंसा भी

घनी घासों में रहने वाले जीव हैं। भैंसा घने वृक्षों के जंगल में बहुत कम प्रवेश करता है। मोहनजोदड़ो से पाया गया एक घोंघा (Zootecus insularis) शुष्क प्रदेश का जीव है। हाथी मध्य प्रदेश के पश्चिम में कभी नहीं पाया गया। अतः प्रतीत होता है कि यहाँ पर बाहर से लाया गया था।

उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि जंगली जानवरों के सर्वनाश का कारण मनुष्य था, न कि जलवायु।

पिगट के मतानुसार हड़प्पा की विकसित जल निकास व्यवस्था वर्षा के अतिरिक्त पानी के निकास के लिए थी। राइक्स और डाईसन ने हड़प्पा की जल निकास व्यवस्था की जल विकास-शक्ति का मोटा अनुमान लगाते हुए बताया कि ये वर्तमान काल के औसत तूफानी वर्षा के पानी को भी बहाने के लिए पर्याप्त नहीं हैं।

राइक्स और डाईसन के निष्कर्ष महत्वपूर्ण लगते हैं। उनके तर्क अकाट्य नहीं हैं। प्रथम, वे प्रतिवर्ष बड़ी संख्या में भारी वर्षा का होना मानते हैं। जब कि इस मत की पुष्टि का कोई प्रमाण नहीं है। दूसरे, बहुत अच्छी जल-निकास व्यवस्था भी भारी तूफानी वर्षा में असफल हो जाती है। साधारणतया जल निकास व्यवस्था मौसमी भारी वर्षा के पानी के निकास को ध्यान में रखकर नहीं बनायी जाती।

पक्की ईंटों के उपयोग की बात भी उपर्युक्त सिद्धांत को सिद्ध करने के लिए की गयी है जो तर्क संगत नहीं है। प्रथमतः धूप में सुखाई गयी ईंट भी हड़प्पा शहर में प्रयोग की गयी थी। कभी-कभी कच्ची ईंटें पक्की ईंटों के साथ क्रम से एक सतह के बाद दूसरी सतह पर प्रयोग की गयी हैं। द्वितीय, कई भवनों में धूप से सुखायी ईंटें ही केवल प्रयोग की गयी हैं। तृतीय, पक्की ईंटों की इमारतों पर भी मिट्टी का पलस्तर किया गया है। अन्नागार जैसी महत्वपूर्ण इमारत में पक्की ईंटों का प्रयोग, बाढ़ से सुरक्षित करने के लिए ही किया गया होगा। सिंधु की वर्तमान वर्षा से पांच गुनी अधिक (अर्थात 20″ वार्षिक) वर्षा के क्षेत्र में भी कच्ची ईंटों का प्रयोग आज किया जाता है। अतः उपर्युक्त प्रमाण पुरैतिहासिक काल में अधिक आर्द्रता सिद्ध नहीं करते।

इस प्रकार स्थापत्य, पशु व वनस्पति पर आधारित तथा अन्य प्रमाण यह स्पष्ट करते हैं कि पुरैतिहासिक से वर्तमान काल तक सिंध व पंजाब की जलवायु में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया। ह्वीलर के मतानुसार बड़ी संख्या में जंगल काटने से हुए भूमि-स्खलन, मुख्य रूप से हड़प्पा के अंत के लिए उत्तरदायी थे।

यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि ये मानसूनी वन न होकर केवल तटीय जंगल थे, जो कि बिना व्यापक वन विनाश के, उनकी ईंटों के भट्टों की आवश्यकता पूरी करने के लिए पर्याप्त थे।

अतः हड़प्पा के अंत के लिए जलवायु दोषी नहीं ठहरायी जा सकती। वस्तुतः पारिस्थितिकी ने ही हड़प्पा के नागरीकरण में सहायता की थी तो क्या प्रकृति ने ही किसी अन्य ढंग से इस सभ्यता के नाश का षड्यंत्र भी रचा था ?

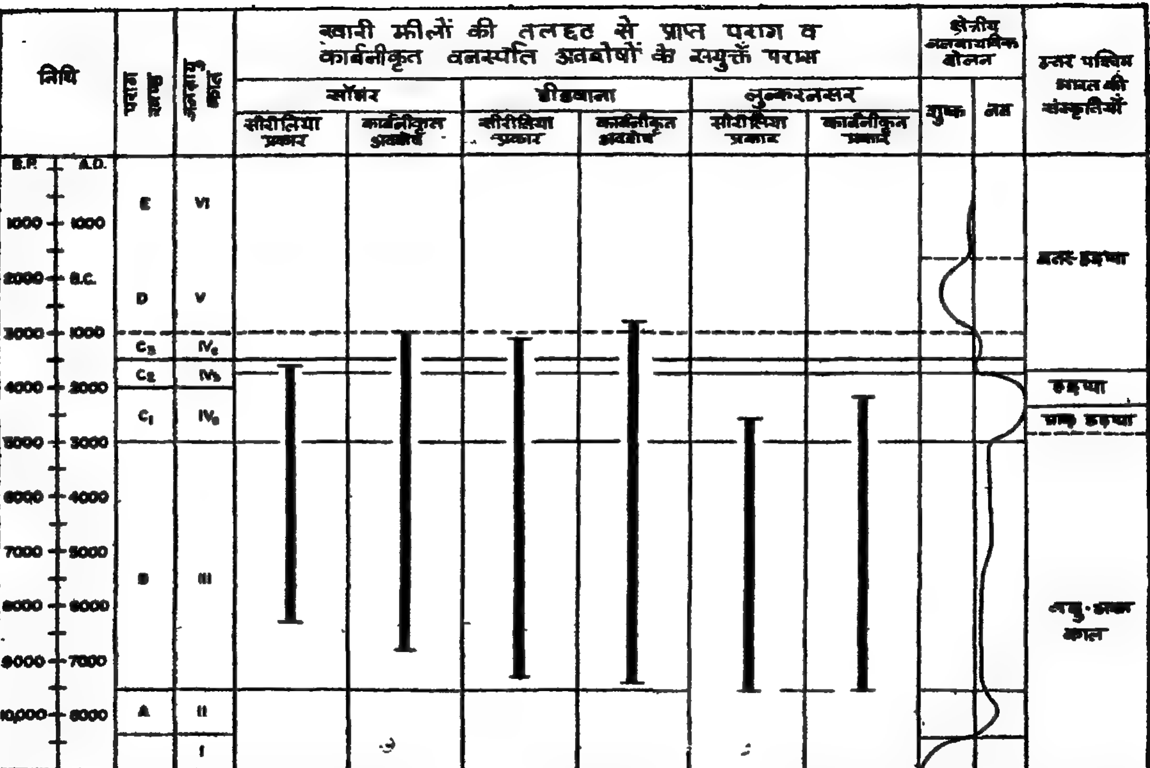
यहाँ पर पराग-प्रमाणों के आधार पर की गयी सिंह की हाल की खोजों का उल्लेख करना आवश्यक है। उन्होंने राजस्थान की कई झीलों की तलछट से पराग का अध्ययन (आरेख), करके पता किया कि लगभग 3000-1800 ई० पू० तक राजस्थान अधिक आर्द्र और हरा-भरा था। 1800 ई० पू० के बाद शुष्क जलवायु आरंभ हो गयी। कालीबंगन की हड़प्पा कालीन बस्ती भी लगभग 1800 ई० पू० में उजड़ने लगती है। इस प्रकार एक बार फिर जलवायु के परिवर्तन के पक्ष में नयी सामग्री प्राप्त हुई है। आशा है कि इस क्षेत्र में भविष्य में किये जाने वाले कार्यों से यह स्पष्ट हो जायगा कि सिंध और पंजाब में जलवायु में परिवर्तन-यदि हुए तो-कैसे हुए।

(ii) क्या बाढ़ हड़प्पा संस्कृति के अंत का कारण थी ?

जब एम० आर० साहनी ने सिंधु की बाढ़ से मोहनजोदड़ो के अंत की बात कही तो किसी भी पुरातत्ववेत्ता ने उनकी बात गंभीरता से नहीं सुनी लेकिन जब राइक्स ने इसी सिद्धांत को जोर देकर पुनर्जीवित किया तो पुराविदों में सनसनी फैल गयी। लगता था कि यह सिद्धांत सर्वमान्य हो गया, परंतु धीरे-धीरे आपत्तियों व शंकाओं ने गंभीर रूप धारण करके इसे फिर संदिग्ध बना दिया है।

राइक्स ने प्रारम्भ में ही हड़प्पा संस्कृति के सहस्र वर्ष के काल-विस्तार पर शंका व्यक्त की थी। मोहनजोदड़ो में पाये गये बाढ़ के प्रमाणों के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि सम्भवतः हड़प्पा का अंत किसी आकस्मिक प्राकृतिक प्रकोप, जैसे सिंधु की बाढ़ का पानी फैलने, से हुआ।

डेल्स के मतानुसार सोत्काकोह और सुत्कागनडोर मूल रूप से बंदरगाह थे लेकिन अब ये समुद्रतट से सैकड़ों मील दूर हैं। मकरान तटीय विवर्तनिक उठान ही संभवतः इसका कारण हो सकती है। सिंधु के दक्षिणी क्षेत्र में आम्री से चांहुदड़ो तक नदी के मुहाने तक कोई भी हड़प्पा कालीन बस्तियाँ विस्तृत खोज के उपरांत भी नहीं मिली। इन्हीं कारणों से राइक्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हड़प्पा काल में ये क्षेत्र पानी के अंदर थे। पर हम देखेंगे कि कम से कम भारतीय भाग में जो स्थल राइक्स ने समुद्र के अंदर दर्शाये थे, वे ऊपर थे।



आरेख 2—राजस्थान की झीलों के तलछट से प्राप्त वानस्पतिक अवशेषों के आधार पर निर्मित तात्कालीन जलवायु की पुनर्रचना

जगतपति जोशी ने उत्तरी कच्छ में तत्कालीन हड़प्पा संस्कृति के बहुत से स्थल खोज निकाले हैं।

मकरान के समुद्र-तटीय प्रदेश में हवाई फोटोग्राफी द्वारा बहुत से ऊँचे उठे पुलिन देखे गये है, यद्यपि इनका काल निर्धारण नहीं हो पाया है। असरार उल्लाह ने अभी हाल में कुछ पुलिनों का तालमेल कुछ घाटियों के पार्श्वतलों से बैठाया है क्योंकि अभी तक किसी भी पार्श्वतल ने क्षरणचक्र पूरा नहीं किया। स्पष्ट है कि वे बहुत प्राचीन नहीं हैं। राइक्स के मतानुसार सिंदोवारो का अंत विवर्तनिक भू-उठान के परिणामस्वरूप उसके जल पूर्ति के साधनों के क्षतिग्रस्त हो जाने से हुआ होगा। प्रारंभ में राइक्स ने हड़प्पा संस्कृति का अंत विवर्तनीय उत्थानों द्वारा माना था लेकिन बाद में उन्होंने एक नया सिद्धांत प्रतिपादित किया कि बाढ़ ने हड़प्पा संस्कृति का विनाश किया। पर उनके अनुसार अंततः परोक्ष रूप से विवर्तनीय उत्थान ही इस विनाश का कारण रहा है।

1964-65 में डेल्स और राइक्स ने मोहनजोदड़ो की प्राचीन बाढ़ों का अध्ययन किया और पाया कि जल निक्षेपित सामग्री व कच्ची ईंटों के भराव बाढ़ के फैलाव के स्तर से 29 फीट की ऊँचाई तक विभिन्न स्तरों पर पाये गये हैं। उन्होंने तीन विभिन्न क्षेत्रों (H. R. क्षेत्र और महल के क्षेत्र) में बर्मे से अन्वेषणात्मक छेद किये। उनके अनुसार बाढ़ के फैलाव के स्तर से 38 फुट की गहराई तक गाद मिट्टी और बस्ती के मलवे के साथ क्रमहीन रूप से मिलती है। H. R. और महल के क्षेत्र में यही सामग्री बाढ़ के मैदान से 50 फुट नीचे गहराई तक मिली। उन्होंने मंचार झील, झूकड़ और आम्री के क्षेत्रों का भी अध्ययन किया था।

उन्होंने बाढ़ से निक्षेपित सामग्री का विश्लेषण किया लेकिन पिग्गट के स्तरीकरण में दर्शाये गये बाढ़ के स्तर कहीं नजर नहीं आये। उनके अध्ययन और कुछ नवीन खोजों से प्राप्त तथ्यों ने सिद्ध कर दिया कि वहाँ केवल तीन मुख्य स्तर + 155·5 और + 158·5, + 168·5 और + 170, और + 175·2 और + 176·7 फुट के बीच थे। जहाँ पर 1·5 फुट या अधिक अंतर पर बाढ़ स्तर का कोई चिह्न नहीं है। राइक्स के मतानुसार उपर्युक्त प्रमाण उनके मौलिक अनुमानों के विपरीत नहीं जाते क्योंकि यह अवस्था सिंधु के विवर्तनीय उत्थानों के कारण अवरुद्ध हो जाने से पानी झील की तरह फैल गया होगा। इसलिए ऐसे ही निक्षेपण की ही अपेक्षा थी।

राइक्स के मतानुसार भूमि के उत्थान से निर्मित बाँध कई मील लंबा होगा जिसमें से नदी का पानी छनकर आता होगा। पानी के लगातार रिसते रहने से पानी का स्तर गाद स्तर से अधिक ऊँचा नहीं होता होगा। इस प्रकार आप्लावन तभी होता होगा जब गाद स्तर बाँध की ऊँचाई तक पहुँच जाता होगा। इतनी ऊँचाई तक पहुँचने के लिए उनके अनुमान से 100 साल या अधिक लग जाते होंगे। स्पष्ट है कि इस प्रक्रिया के पूर्ण होने तक मोहनजोदड़ो व अन्य स्थल गहरे पानी में डूबे रहे होंगे।

बाढ़ या अन्य कारणों से एक बार आप्लावन शुरू हो गया तो सिंधु के जल प्रवाह का पुनर्युवन शुरू हो जाता होगा। केवल 100 वर्ष काल की गादीकरण प्रक्रिया हड़प्पा संस्कृति के काल-विस्तार के लिए छोटी है। अतः राइक्स ने एक से अधिक उत्थानों की संभावनाओं को माना।

मोहनजोदड़ो के उत्खनन के प्रमाणों के आधार पर डेल्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ऐसे पाँच या इससे अधिक प्रक्रिया-क्रम हुए होंगे। उनके मतानुसार कच्ची ईंटों के विशाल चबूतरों व दीवारों पर पक्की ईंटों के आवरण बाढ़ की रोक के लिए बनाये गये होंगे।

अब विवर्तनीय उत्थान की विवेचना करें, जिस प्रकार के कीचड़ के प्रवाहों ने सिंधु को अवरुद्ध किया, उसी प्रकार के प्रवाहों से हाला और हारो पहाड़ों जैसी चोटियाँ जो रेखिक कीचड़ प्रवाहों से बनी हैं, अतिनूतन-मध्यनूतन चट्टानों के नति लंबी सर्पण भ्रंशों से (Strike slip fault) संबंधित हैं। स्नीड ने बलूचिस्तान में इन प्रवाहों के भूवैज्ञानिक कारण खोज निकाले हैं। राइक्स ने सेहवान क्षेत्र में भी अतिनूतन और मध्यनूतन चट्टानों की इसी प्रकार की प्रक्रियाओं के प्रमाण पाये।

राइक्स, स्नीड की स्थापनाओं के आधार पर, इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इसी प्रकार के भूवैज्ञानिक कारण सिंधु क्षेत्र में भी वर्तमान थे और इन कीचड़ प्रवाहों ने ही सिंधु को अवरुद्ध किया।

आम्री में भूमि उत्थान के कोई आसार नहीं हैं, यह संभवतः वर्तमान स्तर + 112·0 फुट पर स्थित है। वहाँ गादीकरण का भी कोई चिह्न नहीं पाया जाता, मिले घोंघों में 90 % समुद्री हैं। अतः राइक्स इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि पूर्व हड़प्पा काल में आम्री ज्वारनद मुख (estuary) रहा होगा। हड़प्पा के प्रारंभिक काल में इन नदी घोंघों की संख्या बढ़ती गयी और इस काल के अंत तक उनकी और समुद्री जातियों के घोंघों की संख्या बराबर हो गयी।

राइक्स ने अपने सिद्धांत का समापन इन शब्दों में किया, "बाढ़ के प्रमाणों की यह व्याख्या भूतत्वीय व जल वैज्ञानिक सिद्धांतों के आधार पर की गयी है और पुरातात्त्विक तथ्यों से मेल खाती है। सेहवान के पास सिंधु उपत्यका के एक या अनेक उत्थानों ने एक ऐसा पारगम्य अवरोध खड़ा कर दिया जिसमें से अधिकांश पानी तो रिस सकता था, परंतु पिंड रुक जाते थे। इस प्रकार मोहन-जोदड़ो व सिंध के दूसरे स्थल धीरे-धीरे इस कीचड़ में डूबते चले गये।"

राइक्स और डाइसन ने हड़प्पा संस्कृति के अंत के संबंध में एक मौलिक सिद्धांत प्रस्तुत किया जो कि इस समय पुराविदों में गंभीर विवाद का विषय बन गया है। अतः इस सिद्धांत का उपर्युक्त विश्लेषण अनिवार्य था और इसलिए भी कि इतनी विशाल झील यदि बनी होती तो उसने इस क्षेत्र को पारिस्थितिकी पर भी गहरा प्रभाव डाला होता।

कजाल के प्रश्न पर कि यह सर्वव्यापी गाद मोहनजोदड़ो के तथाकथित विभिन्न स्तरों में समान रूप से क्यों नहीं एकत्र हुई, राइक्स ने उत्तर दिया कि इस गाद के उठने की दर लगभग 2.9 इंच प्रतिवर्ष औसत की रही होगी। इन परिस्थितियों में वहाँ ठहरने वाले दृढ़ प्रतिज्ञ लोगों को कई वर्षों में अपने मकानों के स्तरों को ऊंचा उठाने की आवश्यकता पड़ी होगी। जो निराश हो गये वे अपनी संपत्ति छोड़कर अन्यत्र चले गये। अतः मोहनजोदड़ो में वही भाग धीरे-धीरे कीचड़ में डूबते रहे जिनके स्वामियों ने कच्ची ईंटों के चबूतरे नहीं बनाये।

लैंब्रिक ने राइक्स के सिद्धांत पर गंभीर शंकाए उठायी हैं। उन्होंने कहा कि गादी-करण का मुख्य क्षेत्र उस स्थल से कहीं ऊपर रहा होगा, जहाँ प्रवेश करती हुई सिंधु, पहले से ही पानी से भरी झील से मिलने पर धीमी पड़ती होगी। विचारणीय है कि सघन निक्षेप का क्षेत्र इस प्रकार निरंतर घाटी के ऊपर की ओर बढ़ता गया होगा। तब गाद का स्तर इतने ऊँचे बांध के शिखर स्तर तक कैसे पहुँच सका होगा जब कि इसके पूर्व ही नदी के ऊपरी भाग में मीलों तक गाद-निक्षेप मुख्यतः पूरा हो चुका होगा।

ऐसा पारगम्य मिट्टी का बांध एक तंग अग्र से 50,0000 घन फुट प्रति सेकेंड की दर से प्रवाहित होने वाले पानी के सामने टिक नहीं सकता था। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि नारा में 1819 के भूकम्प से बना अल्लाह बंद नामक बांध 1826 की जरा सी बाढ़ आ जाने से बह गया।

इन तर्कों से स्पष्ट होता है कि राइक्स का बांध 100 फुट के स्तर तक सरोवरी गाद-निक्षेप की प्रक्रिया से भर नहीं सकता था। इस प्रकार मोहनजोदड़ो

में ऊँचाई पर पायी गयी गाद इस रीति से प्रक्षेपित नहीं हुई होगी। यदि इतनी ऊँचाई पर गादीकरण मान भी लिया जाय तो ऐसी पारगम्यता में बांध का नामोनिशान भी कैसे समाप्त हो गया होगा ? लेंब्रिक बांध के बार-बार के कटाव को वास्तविक नहीं मानते। संभवतः कोलोइडल मिट्टी ने बांध को बंद कर इसके कटाव को रोक दिया होगा।

लेंब्रिक इस तर्क से सहमत नहीं हैं कि सिंधु ऐसे खड़े ढाल में (1 में 3500) बह सकती थी। यदि उस जलोढक का संघटन वर्तमान काल के समान था तो सिंधु को 1 में 10500 जैसे विकट ढाल में बहने के लिए सर्वनाशी दोलनों (Oscillation) में पड़ना पड़ता। लेंब्रिक ने सिंधु के वर्तमान जलोढक और बहने के ढलान का अध्ययन किया है, उनके अनुसार राइक्स के अनुमान और सिंधु का प्रवाह-व्यवहार एक दूसरे से मेल नहीं खाते।

लेंब्रिक के विचार से मोहनजोदड़ो में तथाकथित गाद-निक्षेप वस्तुतः कच्ची ईंटों या वायूढ मिट्टी के वर्षा से चूर-चूर हुई—संपिंडन के तदनंतर इमारतों के दबाव से हुआ होगा।

पोस्सेहल के मतानुसार राइक्स के द्वारा अनुमानित 150 मील लंबे बांध के अवशेष अवश्य मिलने चाहिए। सेहवान पर स्थित ऐसे बांध ने मंचार झील तक को (अपने समान स्तर तक) भर दिया होगा। पर इस क्षेत्र से प्राप्त बहुत से हड़प्पाकालीन स्थलों के मिलने से इस तर्क की पुष्टि नहीं होती। अग्रवाल ने भी निम्न शंकाएँ व्यक्त की थीं। राइक्स ने स्वयं स्वीकार किया है कि सिंधु तटीय जंगल गादीकरण काल में नष्ट होकर नदी के तदनतर पुनर्युवन काल में पुनः न पनप सके होंगे। उनके अनुसार मोहनजोदड़ो का पूर्व व मध्यकाल गादीकरण के दौर से गुजरा होगा। डेल्स ने पांच या अधिक गादीकरण-पुनर्युवन की प्रक्रियाओं को माना है और प्रत्येक प्रक्रिया के लिए 100 वर्ष की अवधि मानी है जो केवल अटकल मात्र है।

यह असंभव लगता है कि मोहनजोदड़ो के कुछ हड़प्रतिश लोग हमेशा चारों ओर फैले पानी के बीच घरों को ऊँचा करके रहते थे। यदि ऐसा हुआ होता तो सड़कों का क्या हुआ होता ? क्या वे भी ऊँची उठायी गयीं ? या हड़प्पावासी सदैव कीचड़ और पानी में ही चलते रहे ? ऐसी स्थिति में क्या यातायात संभव था ? आवागमन के लिए क्या कोई बैलगाड़ी चलायी जा सकती थी ?

ऐसी स्थिति में जंगल हमेशा के लिए नष्ट हो जाते। फलस्वरूप जंगली पशु भी नष्ट हो जाते या दूसरे स्थानों को कूच कर देते। शिकार की संभावनाएँ

ही समाप्त हो जातीं और न छिछले पानी में मछलियों की आशा ही की जा सकती थी। इस प्रकार खाद्य व मांस की उपलब्धि पूर्णतः असंभव हो गयी होती।

30 से 150 मील लंबी झील में न तो कोई फसल उग सकती थी और न यातायात ही संभव था। ऐसी स्थिति में गंदे पानी का निकास कैसे हो पाता? अतः थोड़े दिन भी मानव का रहना कठिन हो जाता। क्या एक महान् सभ्यता उपर्युक्त विकट व विषम परिस्थितियों में जीवित व विकसित हो सकती थी? जो लोग सुनियोजित शहरों को जन्म दे सकते थे क्या ऐसे पारगम्य मिट्टी के बांध को तोड़कर अपनी सारी समस्याओं का हल सदैव के लिए नहीं ढूंढ सकते थे? इस प्रकार राइक्स का सिद्धांत हड़प्पा के विनाश की व्याख्या करने के प्रयास में इस सभ्यता के प्रादुर्भाव व अस्तित्व को ही असंभव बना देता है।

ख—अतिरिक्त पैदावार और नागरीकरण

बाढ़ की उपजाऊ मिट्टी ने शहर के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। कुछ वर्ष पूर्व तक लरकाना जिला (मोहनजोदड़ो के आसपास का क्षेत्र) बहुत उर्वर माना जाता था, वस्तुतः हड़प्पाकाल में स्थिति और भी अच्छी रही होगी। हिम के द्रवीकरण से सिंधु की बाढ़ के पानी में अंतर नहीं आया होगा। पर वनस्पति के कारण जल-वाह के घटने से मानसूनी बाढ़ पर असर पड़ा होगा। फलस्वरूप तत्कालीन बाढ़ प्रवृति आज की अपेक्षा कम परिवर्तनशील रही होगी। यहाँ की उपजाऊ मिट्टी खूब गहराई तक पानी को सोख रखने की क्षमता के कारण अन्न उत्पादन के लिए बहुत उपयोगी हो गयी। इस प्रकार मैदान अन्न के भंडार बन गये।

सिंधु घाटी की बढ़िया, उपजाऊ नर्म मिट्टी के लिए भारी फलों वाले हलों की आवश्यकता न थी। खुदाई में अब तक हल का ऐसा फल मिला भी नहीं है। संभवतः पतली लम्बी कुल्हाड़ी और कुदाली (लकड़ी की मूठ लगाकर) हल के स्थान पर प्रयोग की जाती थी। पतले लंबे चर्ट फलक अक्सर बड़ी चमक लिये हुए पाये गये हैं। कोई आश्चर्य नहीं यदि इनका प्रयोग भी लकड़ी की नोक पर लगाकर हल-फलक की तरह किया जाता रहा हो। अनाज की ढुलाई के लिए बैलगाड़ियां व एकत्र करने के लिए विशाल अन्नागार थे।

अतिरिक्त कृषि उत्पादन ने विभिन्न दस्तकारियों को जन्म दिया। अब पूरा समय दस्तकारी को देने के फलस्वरूप शिल्पकार अपने कार्य के विशेषज्ञ बन गये। उनकी खाद्य पूर्ति अतिरिक्त कृषि उपज से होने लगी। अधिक औजारों के कारण व्यापक कृषि-कर्म व इसके फल स्वरूप अधिक अतिरिक्त कृषि उत्पादन

संभव हुआ। इस अतिरिक्त उत्पादन ने धातु उद्योग को और प्रोत्साहन दिया। विकास की इस प्रक्रिया के फलस्वरूप इतना अधिक उत्पादन हुआ कि उसने नागरीकरण और सभ्यता को जन्म दिया।

तटीय जंगलों व घास के मैदानों से वन्य जन्तु, व नदियों से प्रचुर मात्रा में मछलियां उपलब्ध हुई होंगी। ईंटों को पकाने के लिए कंडी और झाऊ के वृक्षों का प्रयोग किया गया। ताबूत और अन्य महत्वपूर्ण वस्तुएँ बनाने के लिए चीड़ व देवदार की लकड़ी संभवतः नदियों द्वारा हिमालय से लायी जाती थी।

सभ्यता का विकास और उसका निर्वाह मुख्य रूप से शक्ति उत्पादन के साधनों के सघन उपयोग पर निर्भर करता है। प्राप्त प्रमाणों के अनुसार हड़प्पा-वासी वायु शक्ति का उपयोग पालदार नावों को चलाने के लिए करते थे। उन्होंने पशुधन का भी व्यापक उपयोग किया, संभवतः भारत में पशुओं को पवित्र मानने की प्रथा का जन्म भी हड़प्पा काल में हुआ। चौपाये कृषि व यातायात दोनों के लिए अति आवश्यक थे। घास के विस्तृत मैदानों के कारण गाय-बैलों की संख्या में वृद्धि हुई। संभवतः यह वृद्धि पश्चिमी व भारतीय नस्लों के चौपायों के संकरण से हुई। फेयरसर्विस द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत के अनुसार हड़प्पा काल में मानव व पशु के बीच इष्टतम सहजीवन संभव हो गया था, जिसके कारण कृषि व व्यापार का तेजी से व्यापक विकास हुआ, पशुओं के प्रचुर उपयोग ने नागरीकरण की गति को उल्लेखनीय तीव्रता प्रदान की।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इष्टतम पारिस्थितिकी विकसित तकनीकी ज्ञान, पहिए का शीघ्रगामी परिवहन के लिए उपयोग, प्राकृतिक शक्ति स्रोतों का सदुपयोग आदि कारणों ने मिलकर हड़प्पा सभ्यता को जन्म दिया।

हड़प्पा संस्कृति के विकास के सही कारणों का अब तक ठीक से ज्ञान नहीं हो पाया है। लेकिन यह स्पष्ट है कि वह एक विशेष पारिस्थितिकी में फली-फूली। हड़प्पा संस्कृति का विस्तार सिंध, पंजाब, राजस्थान, दोआब, कच्छ व गुजरात के अधिकांश भाग की पारिस्थितिकी के अनुरूप था। कुछ अज्ञात कारणों से हड़प्पा संस्कृति के लोग इस विशेष पारिस्थितिकीय क्षेत्र के अधिकेन्द्र से निकल कर बाहरी परिधि की ओर जाने के लिए मजबूर हुए। जब तक पारिस्थितिकी वही रही, वे फले-फूले परंतु दोआब के घने जंगलों और भारी वर्षा के नये क्षेत्र में पहुँचते ही इस संस्कृति का विलय हो गया।

III : राजस्थान

थार सहित राजपूताना का रेगिस्तान करीब 4-5 लाख वर्गमील में फैला था। यहां कुओं के पानी में नमक की अधिकता से गौडबोले इस निष्कर्ष पर

पहुँचे कि यह क्षेत्र हड़प्पा काल में समुद्र के अंदर था। पर अमलानंद घोष ने राजस्थान में हड़प्पा कालीन स्थल ढूंढ़ निकाले, जो उपर्युक्त मत के विरुद्ध पड़ते हैं।

अमलानंद घोष ने प्राचीन दृषद्वती (वर्तमान चौटांग) व सरस्वती (वर्तमान घग्गर) नदियों के किनारे ढूंढ निकाले। आजकल ये नदियां लगभग विलुप्त हो चुकी हैं। सरस्वती में नैवाला नाला मिलता है जो कि प्राचीन काल में सतलज नदी की सहायक थी। दृषद्वती भी सूरतगढ़ के पास सरस्वती से मिलती है। संभवत: सरस्वती व इसकी सहायक नदियां अपने जीवन काल में स्वतंत्र रूप से या सिंधु की सहायक के रूप में अरब सागर में गिरती थीं।

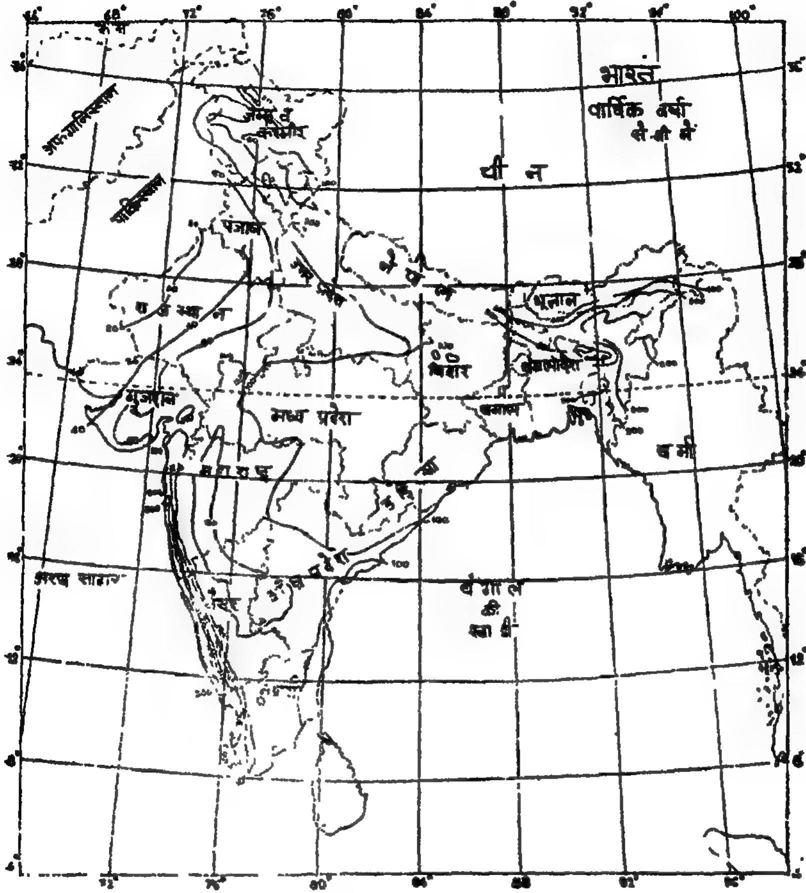
घोष ने बताया कि हड़प्पा स्थल, घाटियों के बीच की अपेक्षा, कछार में मिलते हैं। लेकिन कालांतर में पानी उत्तरोत्तर कम होता गया और बस्तियां तदनुसार उनके निकट बसती गयीं ताकि उन्हें जल आसानी से उपलब्ध हो सके।

हड़प्पा व पूर्व हड़प्पा कालीन बस्तियां दृषद्वती नदी के किनारे पायी गयी। तत्पश्चात एक सहस्र वर्ष के लंबे विराम के बाद सरस्वती घाटी में* चित्रित धूसर भांड संस्कृति के लोगों का अभ्युदय हुआ। पुन: एक सहस्र वर्ष के पश्चात् रंगमहल संस्कृति की उत्पत्ति इस क्षेत्र में हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि हड़प्पा संस्कृति का अंत 1700 ई० पूर्व हुआ। लगभग एक सहस्र वर्ष पश्चात् 700-800 ई० पू० चि० धू० भांड संस्कृति का और तत्पश्चात् एक सहस्र वर्ष बाद 300-400 ई० के लगभग रंगमहल संस्कृति का प्रादुर्भाव। इन संस्कृतियों के बीच के काल की अन्य किसी संस्कृति की बस्तियां इस क्षेत्र में नहीं मिलतीं। मानव जीवन के लिए पानी की पूर्ति अनिवार्य है। एक सहस्र वर्ष के विराम के पश्चात् इन बस्तियों का पुन: प्रादुर्भाव हुआ क्या किसी जलवायु के चक्र को दर्शाता है, जिसके फलस्वरूप वे हर एक सहस्र वर्ष बाद मानव के अनुकूल हो जाती थीं ?

अब प्रश्न है कि राजस्थान का रेगिस्तान कितना पुराना है ? घोष ने महाभारत से प्रमाण उद्धरित करके बताया कि यह 200 ई० में रेगिस्तान हो चुका था। किंतु तीसरी और चौथी शती के रंगमहल संस्कृति के भग्नावशेष यहां पर विस्तृत पैमाने पर मिलते हैं। जिससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि उस काल में यह क्षेत्र मानव के अधिक अनुकूल था। ब्राईसन और बैरीज के मतानुसार यह रेगिस्तान थार तक 1000 ई० पू० फैला। राजस्थान के रेगिस्तान की जलवायु परिवर्तन पर सिंह का मत पहले दिया जा चुका है।

---

*चित्रित धूसर मृद् भांड के लिए आगे चि० धू० भांड प्रयोग किया जायगा।



मारेख 3

भारत में वार्षिक वर्षा का वितरण

उपर्युक्त विश्लेषणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हड़प्पा व चि० धू० भांड काल में यहाँ की जलवायु मानव जीवन के अधिक अनुकूल रही होगी, और यहाँ की नदियाँ सदानीरा। हड़प्पा काल में सिंधु व इस क्षेत्र की पारिस्थितिकी एक सी ही रही होगी। सरस्वती सिंधु की ही सहायक थी। अतः हड़प्पा संस्कृति इस क्षेत्र में भी फैल सकी। कालांतर में सतलज, जो सरस्वती की सहायक थी, व्यास से जा मिली और सिंध में प्रवाहित होने लगी। अत्यधिक

आबादी और चरागाहों की अत्यधिक चराई के कारण सम्भवतः मानव, पशु व वनस्पति जगत के बीच पारिस्थितिकीय असंतुलन पैदा होने से, उर्वर भूमि व वनस्पति आवरण कम होते गये। धूल की परतें उनका स्थान लेती गयीं और वर्षा निरंतर कम होती गयी। यह निर्विवाद है कि राजस्थान का रेगिस्तान मानव कृत है। होरा ने कहा था,"राजस्थान रेगिस्तानी प्रधानतः मानव कृत है, मानव द्वारा जंगलों को काटने व जलाने से जमीन का क्षय हो गया"।

सतलज के मार्ग परिवर्तन करने, चरागाहों के उजड़ने, जंगलों के काटने व जलाने आदि के फलस्वरूप वर्षा कम होती गयी। सरस्वती स्वयं सूखती गयी। दूसरी ओर सिंध के अर्द्ध शुष्क क्षेत्र में सिंध नदी उपजाऊ मिट्टी फैलाती रही और सींचती रही।

IV दोआब

गंगा और उसकी सहायक नदियों का जलोढक मैदान दोआब कहलाता है। इसकी गहराई 15000 फुट है जो कि हिमयुग की देन है। सहस्त्रों वर्षों से इन घने मानसूनी जंगलों को काटकर ये मैदान बने। यह क्षेत्र 25″-40″ वार्षिक वर्षा के क्षेत्र में आता है (आरेख 3)। पुरानी जलोढ भूमि कंकरीली थी। अतः बिना लोहे के भारी हलके फलों से जोतना असंभव था। प्रारंभ में यह सारा क्षेत्र साल के जंगलों से आच्छादित था जो कि अब केवल पहाड़ी ढालों व तराई में बचे हैं। स्टेबिंग ने भी इस क्षेत्र में प्राचीन घने जंगल होने का वर्णन अपने प्रामाणिक ग्रंथ 'भारत के जंगल' में किया। सिंह के मतानुसार 4000-2000 ई० पू० के बीच दोआब के किनारे मानसूनी जंगल और दलदल फैले थे। के० एम० पण्णिकर का मत है कि रामायण काल में इन मैदानों का उपनिवेशन पूर्ण रूप से नहीं हुआ था। दोआब के घने जंगलों में महाऋषि मुनियों के आश्रम थे। बाशम के कथनानुसार आर्यों का प्रवेश मार्ग नदियों से न होकर (जिनके तट पर संभवतः घने जंगल व दलदल थे) हिमालय की तलहटियों से होकर था। यहाँ तक कि मुगल काल में भी विशाल जंगलों का वर्णन शिकार के सिलसिले में आया है। कौसंबी के मतानुसार भी गंगा की घाटी की अत्यधिक उपजाऊ मिट्टी, अधिक वर्षा के कारण जंगलों से आच्छादित थी।

प्राप्त अवशेषों में जंगली शीशम (Dalbergia sissoo) और कुर्ची (Holarhena antidysentrica) के प्रमाण दर्शाते हैं कि जलवायु में तब से अब तक विशेष परिवर्तन नहीं आया। जंगली नेवाल व चावल का भी पता लगा

है। वृजवासी लाल द्वारा प्राप्त हस्तिनापुर के छह मिट्टी के नमूनों में से चार परागपूर्ण थे, परंतु चीड़ के अलावा अन्य कोई नमूने पहचाने नहीं गये। यद्यपि दोआब में प्राचीन काल में घने जंगल होने के विभिन्न प्रमाण निर्णयात्मक हैं, तो भी पराग विश्लेषण से ही तत्कालीन वनस्पति वैभिन्य का पूर्ण ज्ञान हो सकता है। हस्तिनापुर मे प्राप्त काटी व पकाई हुई हड्डियों से स्पष्ट होता है कि वे लोग गाय, बैल, हिरन व सुअर का मांस खाते थे।

चावल हस्तिनापुर में चि० धू० भांड काल से, नवदाटोली में काल II-IV के स्तर से व रंगपुर व लोथना स भी प्राप्त हुआ है। जंगली चावल मध्य भारत व राजपुताना आदि में होता था। अतः सम्भवतः सौराष्ट्र के हड़प्पा संस्कृति के लोगों व नवदाटोली वासियों ने इसके प्रयोग की शुरुआत कर दी थी।

हस्तिनापुर से प्राप्त घोड़े के अवशेषों से उसे आर्यों से संबंधित माना गया था। पर मोहनजोदड़ो के ऊपरी स्तर से घोड़े की हड्डियाँ व घोड़े के सिर की मृण्मूर्ति मिलीं। रॉस ने राना घुण्डई के निम्नतम स्तर से घोड़े के चार दाँत खोज निकाले थे। अतः स्पष्ट है कि पूर्व हड़प्पा व हड़प्पा-काल में घोड़ा प्रयोग होता था। अतः घोड़े अथवा चावल की खेती के आधार पर आर्यों का किसी संस्कृति से संबंध जोड़ना गलत है।

उपर्युक्त प्रमाण स्पष्ट करते हैं कि मूलतः दोआब का मैदान घने जंगलों व कंकड़ी मिट्टी का क्षेत्र था। केवल अतरंजी खेड़ा व हस्तिनापुर से चि० धू० भांड के स्तरों से लौह उपकरण मिले हैं। इसमें संदेह नहीं कि चि० धू० भांड कालीन मानव ने ही लौह उपकरणों से दोआब को आबाद करना प्रारंभ किया होगा। लेकिन बड़े पैमाने पर कृषि उत्पादन बिहार से बहुतायत से प्राप्त लौह उपकरणों द्वारा एन० बी० पी० युग में ही संभव था। इस क्षेत्र में 500 ई० पू० से पहले नगरों का अस्तित्व संभव न था। लौह प्रचुरता ने ही नागरीकरण को इस युग में संभव बनाया।

दोआब की आर्द्र घने वनों वाली पारिस्थितिकी में हड़प्पा संस्कृति वाले पनप न पाये अतः वे दोआब के पश्चिमी क्षेत्र तक ही सीमित रह गये। अब तक प्राप्त ताम्र संचय स्थल चौरस मैदानों में मिले हैं न कि टीलो पर। यह ताम्र संचय युगीन मानव का घुमक्कड़ जीवन का ही द्योतक है। उनके केवल मिट्टी के बर्तन भी इसी मत की पुष्टि करते हैं। लकड़ी काटने के लिए कुल्हाड़ी, मछली व बड़े शिकार के लिए बर्छी, पक्षियों को मारने के लिए मानवाकृति-अस्त्र, व बड़े शिकार को पकड़ने के लिए शृंगिणी तलवार आदि उनके घुमक्कड़ जीवन

के अनुरूप थे। लेकिन केवल ताम्र अस्त्रों से (तकनीक से) इन विशाल घने वनों को साफ कर कृषि-योग्य बनाना, संभव न था। यह तभी संभव हुआ जब लोहे की खोज हुई और उसके उपकरण बनने लगे।

व्हीलर ने दोग्राब के विषय में एक बार कहा था, "हिन्दुस्तान का कोई भी क्षेत्र इतनी पूर्णता से परिवर्तित नहीं हुआ जितना कि यह क्षेत्र जिसमें कृषि-भूमि जंगलों को हड़पती चली गयी। इसलिए इतिहासकारों को पहले उस सघन महावनों की परिकल्पना करनी चाहिए जिसमें ये संस्कृतियाँ पनपीं।"

(V) मध्य देश और दक्षिणी पठार

इस क्षेत्र के अंतर्गत सतपुड़ा की पहाड़ियाँ, मालवा, बघेलखंड और छोटा नागपुर आते हैं। जहाँ अभी भी आदिवासी रहते हैं। पहाड़ियों की ऊँचाई समुद्र से 300 से 400 मीटर तक है। सुब्बाराव ने इस क्षेत्र को शाश्वत मानवी आकर्षण केन्द्र के अंतर्गत रखा है। वर्तमान काल में काली मिट्टी की उपजाऊ शक्ति से प्रभावित होकर ही उन्होंने उपर्युक्त विचार बनाये होंगे। कपासी काली मिट्टी की परतों के साथ अधिकांश भाग चट्टानी है। ये मिट्टी संभवतः वनस्पति-क्षय से बनी हो। मजूमदार के मतानुसार जिस भूमि पर नवदाटोली वासी बसे थे वह भूरी गाद के अपक्षय से बनी है। यद्यपि काली मिट्टी काफी उपजाऊ है पर इसकी तुलना दोग्राब की उपजाऊ भूमि से नहीं हो सकती। नर्मदा, ताप्ती व गोदावरी आदि बड़ी नदियों के होते हुए भी यह क्षेत्र घना आबाद नहीं है, क्योंकि नदियाँ पठारों से गुजरती है। लेकिन गोदावरी के उपजाऊ डेल्टा में घनी आबादी है।

ताम्राश्मीय युगीन मानव अपने अल्प ताम्र प्राप्ति व तकनीकी ज्ञान से कठोर काली कपासी धरती को नहीं जोत सकता था। इस कार्य के लिए भारी व तीखे लौह उपकरणों की आवश्यकता थी। कृषि नर्मदा और बेतवा के तंग जलोढ पट्टियाँ तक ही सीमित रही। इन भौतिक परिस्थितियों में बहुत बड़े पैमाने पर कृषि संभव न थी अतः अतिरिक्त उत्पादन का प्रश्न ही नहीं उठता। पारिस्थितिकी सीमित कृषि-कर्म के अनुकूल थी पर नागरीकरण के लिए नहीं। यही कारण है कि ताम्राश्मीय संस्कृतियाँ ग्रामीण स्तर से ऊपर नहीं उठ पायी। संकालिया के मतानुसार नवदाटोली की प्रारंभिक बस्ती की आबादी लगभग 150 तक थी।

ताम्राश्मीय कालीन मानव ने कई प्रकार के पौधे उगाये जैसे गेहूँ और चावल। नवदाटोली के II-IV स्तर से मसूर, उड़द, मूँग, अलसी, जौ और

आँवला आदि प्राप्त हुए। यह विचित्र बात है कि इस वनस्पति में शीत देशी जातियाँ अन्य जातियों से अधिक हैं। क्या यह उस काल की ठंडी जलवायु का द्योतक है?

इस क्षेत्र की चट्टानें पत्थरों के हथियार बनाने के लिए उपयुक्त थीं। दक्षिणी लावा में घिसी कुल्हाड़ी बनाने के लिए डोलराईट बहुतायत से मिलता है। यह क्षेत्र करकेतन व बादली पत्थर आदि के खनिजों से भरपूर था। ये पत्थर औजार बनाने के काम में लाये जाते थे। संकालिया को नर्मदा तट पर भी करकेतन के गुल्म मिले। सामग्री की कमी या विभिन्न परंपराओं के कारण बनास संस्कृति वालों ने लघु-अश्म अस्त्रों का प्रयोग नहीं किया, जब कि नवदाटोली में ऐसा लगता है कि प्रत्येक परिवार ने अपने प्रयोग के लिए स्वयं पत्थर के हथियार बनाये थे।

VI. निष्कर्ष

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पारिस्थितिकी पूर्णरूप से सामाजिक विकास को नियंत्रित नहीं करती। पारिस्थितिकी विकास में सहायक भी हो सकती है तो उसके मार्ग को अवरुद्ध भी कर सकती है। तकनीकी ज्ञान मानव को उसकी पारिस्थितिकी के नियंत्रण से मुक्त कर देता है। पर किसी एक निश्चित पारिस्थितिकी के परिवेश में तकनीकी ज्ञान कहाँ तक विकास कर सकता है इसकी भी सीमा है। सिंध में ताम्र तकनीक ने एक महान् सभ्यता को जन्म दिया तो दूसरी ओर दोआब के नागरीकरण में यह असफल रही। हड़प्पा संस्कृति के शरणार्थी दोआब के आर्द्र मानसूनी जंगलों में उलझ कर विलीन हो गये। हड़प्पा संस्कृति के 2000 वर्ष पश्चात्, बिहार से प्राप्त लोह से ही दोआब का नागरीकरण संभव हो सका।

अध्याय—२ संदर्भिका

इस अध्याय विषयक मुख्य ग्रंथ

D. P. Agrawal	:	The Copper Bronze Age in India, 1971 (New Delhi).
D. D. Kosambi	:	The Culture and Civilisation of Ancient India in Historic Outline, 1965 (London).
M. B. Pithawala	:	A Physical and Economic Geography of Sind, 1959 (Karachi).

S. Piggott : Prehistoric India, 1961 (Harmondsworth).

R. L. Raikes : Water, Weather & Prehistory, 1967 (Lor don).

O. H. K. Spate : India and Pakistan, 1963 (London).

E. P. Stebbing : The Forests of India, 1922 (London).

B. Subba Rao : The Personality of India, 1959 (Baroda).

R. E. M. Wheeler : Early India and Pakistan, 1959 (London).

भूतकालीन जलवायु परिवर्तन संबंधी लेख :

G. F. Dales : Antiquity, Vol. 34, p. 86, 1962.

W. A. Fairservis : Amer. Museum Novitates No. 2055, 1961.

H. T. Lambrick : Antiquity, Vol. 41, p. 228, 1967.

R. L. Raikes and R. H. Dyson Jr. : American Anthropologist, Vol. 63, p. 265, 1961.

R. L. Raikes : American Anthropologist, Vol. 66, p. 284, 1964.

R. L. Raikes : Antiquity, Vol. 39, p. 196, 1965.

R. L. Raikes : Antiquity, Vol. 42, No. 168, 1968

C. Ramaswamy : Nature, Vol. 217, No. 5129, p. 628-629, 1968.

Gurdeep Singh : Archaeology and Physical Anthropology in Oceania, Vol. 6, No. 2, July 1971.

Gurdeep Singh : The Palecbotanist, Vol. 12, No. 1, 1963.

B. B. Lal : American Anthropologist, Vol. 70, No. 5, p. 857-863, 1968.



अध्याय 3

पुरातात्त्विक सामग्री और समस्याएँ

इस अध्याय में हमने नवीनतम पुरातात्त्विक उपलब्धियों के परिवेश में पुरैतिहासिक काल के चित्रण का प्रयास किया है। काल की दृष्टि से लगभग 3000 से 500 ई० पूर्व तथा विस्तार की दृष्टि से गोदावरी के उत्तर में लगभग समस्त भारतवर्ष (भारत पाक उपमहाद्वीप) को लिया गया है। सर्वेक्षण का मुख्य ध्येय उभरने वाली समस्याओं का परिप्रेक्ष्य तथा उनके समाधान के लिए सूत्र प्रस्तुत करना है। इस अध्याय में आधार सामग्री तथा उसके बारे में विभिन्न मतों का बिना टीका-टिप्पणी के विवरण दिया गया है। इस आधार-सामग्री में धातु संबंधी तथ्य तथा काल-क्रमिक संबंधों (कड़ियों) को भी सम्मिलित किया गया है। इन प्रमाणों को अगले अध्यायों में प्रसंगानुसार प्रयोग किया जायगा तथा परखा जायगा। स्थलों का वर्णन पारिस्थितिकीय परिवेश में किया गया है। पांचवें, अध्याय में केवल लौहकालिक संस्कृतियों का विवेचन है। कई क्षेत्रों का कालक्रम आज भी स्पष्ट नहीं है और कुछ क्षेत्रों का काल-निर्धारण विवादास्पद है। चौथे व पांचवें अध्याय में कालक्रम समस्याओं का विस्तृत रूप से विचार किया जायगा। इस अध्याय में सांस्कृतिक वर्गीकरण प्रयुक्त किया गया है।

I : प्राग्हड़प्पा संस्कृतियां

यहां हम यह सर्वेक्षण हिंद-ईरान के सीमावर्ती भूखंड से आरंभ कर रहे हैं। यह क्षेत्र मुख्यतः पहाड़ी है तथा हिमालय से संलग्न है। ये पर्वत शृंखलाएँ भारत-पाक उपमहाद्वीप को इससे प्राचीन पश्चिमी सभ्यताओं के केन्द्रों से पृथक् करती थीं तो दूसरी ओर पहाड़ी दर्रों के रास्ते थोड़ा बहुत आदान-प्रदान में सहायक भी हुए। स्पेट ने इस क्षेत्र का वर्णन इस प्रकार किया है—बलूचिस्तान की शुष्क घाटियां तथा पहाड़ियां विशाल ईरानी पठार के पूर्वी अंग हैं जो किर्थर तथा सुलेमान पर्वतों द्वारा सिंधु के मैदानों से सुस्पष्ट रूप से विभाजित है। टोबा काकर और सुलेमान पर्वत शृंखला और झोब और बेजी के जालायित विन्यास

(Trellis-pattern), की घाटियां इस क्षेत्र का विभाजन करती हैं। ऐसे प्रदेश में मरुद्यान पार्थक्य को प्रेरणा देते हैं। इस प्रकार का प्रदेश निकट संबंध तथा आदान-प्रदान व आवागमन के लिए अनुकूल न था। विमा त्रिपाठी के अनुसार इस प्रदेश को विभिन्न आदिवासी संस्कृतियों को यहां के भौगोलिक वातावरण ने आदर्श प्रतिवेश प्रदान किया है। इन्हीं मरुद्यानों में आरंभिक कृषि-संस्कृतियां पनपीं जिन्होंने ईरानी संस्कृतियों से बहुत कुछ आत्मसात किया।

(क) अफगानिस्तान

(i) मुंडीगाक

दक्षिणी अफगानिस्तान में मुंडीगाक से अत्यंत महत्वपूर्ण सांस्कृतिक क्रम प्राप्त हुआ है। वहां सबसे पहले बसे लोगों की बस्ती (काल I_1) से हस्तनिर्मित गुलाबी मृद्भांड प्राप्त हुए हैं, जिसके थोड़े समय पश्चात् ही काल I_2 में मृद्भांड चाकनिर्मित बनने लगे जिनका पश्चिमी संस्कृतियों से साम्य था। इस काल (I_2) में तांबा भी इस्तेमाल होने लगा। काल I_3 में मृद्भांडों तथा वास्तुकला में आम्री का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। कूबड़ सांडों की चित्रित लघु मूर्तियां भी मिलती हैं। मुंडीगाक के II व III में पत्थर के सकेन्द्री डिजाइन वाली मोहरों का प्रादुर्भाव हुआ।

काल II में न केवल पाश्चात्य संस्कृतियों से, अनुपात में, अलगाव स्पष्ट है बल्कि तांबे की बनी वस्तुओं के संग्रह में नाकेदार सुइयां, रीढ़दार कटार तथा गरगोल युग्म प्राप्त हुए है। काल III में अकस्मात् ईरान, आम्री और हड़प्पा के प्रभाव के फलस्वरूप मृद्भांडों तथा उपकरणों के प्रकार में विविधता दृष्टिगोचर होती है। तांबे व टीन के संमिश्रण का प्रमाण तथा हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी और बसूलों का प्रयोग सर्वप्रथम काल III_6 में हुआ। काल IV में परकोटे, दुर्ग तथा मंदिर के ध्वंसावशेष पहचाने जा सके हैं। जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस काल में नगर विकास आरंभ हुआ। काल IV में सूसा के स्कारलेट मृद्भांड तथा कुछ ईरानी डिजाइन (आड़ी तिरछी रेखाएं, प्राकृतिक रूप में दर्शाये गये तीतर तथा साकिन (Ibex) इत्यादि) से सामान्य समानताएं अन्य कालों के समान निरंतर देखी जा सकती है। काल V में शतरंजी पट्टवाले हस्तनिर्मित मृद्भांड पुनः मिलते हैं। इस काल में मृद्भांडों और धातु विज्ञान में पश्चिमी एशिया के प्रभाव का पूर्णतया अभाव है। मुंडीगाक के काल IV में मृद्भांड, चूहेदान तथा एक पत्थर का पुरुष-सिर सिंधु-सभ्यता के कुछ पुराने तत्त्वों का आभास देते है।

डेल्स के मतानुसार मुंडीगाक के काल III में द्विरंगी व बहुरंगी मृद्भांड एक साथ मिलते हैं, लेकिन दक्षिण में भौगोलिक दृष्टि से इनका वितरण भिन्न है। बहुरंगी अलंकरण, (विशेष रूप से नाल भांड) केवल बलूचिस्तान के उच्च प्रदेशों में ही मिलते हैं जबकि द्विरंगी अलंकरण जिसे आम्री भांड की संज्ञा दी गयी है गिरिपादों तथा सिंधु के निचले भाग के मैदानों में ही केन्द्रित हैं। सुनिश्चित चित्र-शैलियों के बावजूद भी दोनों वर्गों के मृद्भांडों के आकार तथा डिजाइन में कुछ समानता है। डेल्स की धारणा है कि बहुरंगी परंपरा पश्चिम से ली गयी। वे कहते हैं, "मूलभूत परंपरा का विभाजन एवं जनसंख्या का एक भाग नीचे सिंधु घाटी की ओर तथा बाकी बलूचिस्तान की मध्यम ऊंचाई वाले क्षेत्र (1000-1300 मीटर ऊंचाई) को गया। ऐसा क्यों हुआ कहना कठिन है। प्रकट रूप से ऐसा लगता है कि इन दो शाखाओं में पूर्णतया भिन्न सांस्कृतिक, आर्थिक एवं सामाजिक प्रणाली का विकास हो गया। ऐसा भी सुझाव दिया गया है कि नाल के निवासी कुछ अंश तक यायावर गतिशीलता के साथ-साथ कृषि तथा पशुपालन पर मिश्रित रूप से निर्भर हो गये, जबकि आम्री निवासी स्थान-बद्ध कृषक तथा नगरवासी हो गये, जिसके फलस्वरूप उन्होंने सिंधु घाटी में सभ्यता निर्माण की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष रीति से योगदान किया"। निश्चित रूप से कहना कठिन है कि यह जन समुदायों की गतिशीलता के फल-स्वरूप अथवा केवल परंपरा के कारण हो सका।

(ii) देह मोरासी घुंडई

दक्षिणी मध्य अफगानिस्तान में देह मोरासी घुंडई बलूचिस्तान के लिए ईरानी प्रभाव के प्रसारण का केन्द्र रहा। यहां का काल I राना घुंडई के समान है, किंतु केवल इस काल से कुछ ठीकरे ही प्राप्त हुए हैं, चकमक औजार नहीं मिले। काल II के मृदभांडों की तुलना क्वेटा तथा ईरान से की जा सकती है। इसके अतिरिक्त क्रोब लदु मूर्तियां, खानेदार मुद्रा-छापे, तथा स्कंध कुदाली, तथा काल III में शव भी मिले हैं।

(ख) बलूचिस्तान

बलूचिस्तान प्रधानतः पहाड़ी तथा अर्ध शुष्क इलाका है और मानसूनी वृष्टि की छाया के पश्चिम में पड़ता है। यहां जलवायु पूर्वी ईरान के समान है। बलूचिस्तान के हड़प्पा संस्कृति के स्थल (डूकी, डाबर कोट) अंतर्वर्ती क्षेत्र में स्थित हैं जिनका सिंधु घाटी से पारिस्थितिकीय संबंध है। बलूची पुरैतिहासिक स्थलों की स्थिति बलूचिस्तान के उच्च प्रदेश में परिसीमित रहने की है।

हाल ही में बलूचिस्तान क्षेत्र में फेयरसर्विस और डी कार्डी ने व्यापक रूप में अन्वेषण किया। इसी के फलस्वरूप आज हमें इन बलूची पुरैतिहासिक संस्कृतियों के विषय में विस्तृत ज्ञान हो गया है, लेकिन उसको (दम्ब सदात को छोड़कर) पुरानी कार्य प्रणाली के कारण उसके कार्य का महत्व कम हो गया है। डी कार्डी का कथन है कि कच्ची ईंटों को न पहचान सकने के कारण उत्खनकों ने 25 से० मी० की इकाइयों में खोदा। इसलिए क्वेटा की घाटी से प्राप्त विविध प्रकार के अनलंकृत तथा अलंकृत मृद्‌भांडों का सहसंबंध कठिन है।

(i) नाल

सन् 1925 में हार्ग्रीव्स ने कलात में नाल का उत्खनन किया। वहाँ के मकानों की दीवारों में नीवें खोदकर बनायी गयी थीं। चिनाई तीन प्रकार की थीं—पहले प्रकार की चिनाई में खदान से निकाले गये सीधी दरार वाले पत्थर प्रयोग किये गये थे। दूसरे प्रकार की चिनाई में नदी के पत्थर, और तीसरे प्रकार की चिनाई में दोनों किस्म के पत्थरों का प्रयोग किया गया था। आम्री में भी कजाल ने ऐसी इमारतें देखीं। उसके विचार से नरभक्षी पशुओं से रक्षा के हेतु इमारतों को ऊँचा बनाया गया था।

हार्ग्रीव्स ने मुख्य रूप से कब्रिस्तान क्षेत्र का उत्खनन किया जहां उसे विभिन्न प्रकार की कब्रें मिलीं। अस्थि भंग कब्रों में बर्तनों के आस पास बच्चों और वयस्कों की हड्डियां छितरी पड़ी थीं। एक अन्य प्रकार की कब्रों में बिना किसी सुनिर्मित कब्र के ही सम्पूर्ण शरीर को दफन किया गया था।

आवासीय क्षेत्र D में अनियमित ढंग के कक्ष थे जिनमें लकड़ी की कड़ियाँ तथा दीवारें काली हो गयी थीं। चकमक के चाकू और क्रोड़ सर्वथा अप्राप्य थे। मनके, बादली पत्थर (Agate), तामड़े पत्थर (Carnelion), लाजवर्द (Lapis Lazuli), शंख (Shell), पेस्ट (Paste), चूने के पत्थर और तांबे के थे। मृण्मूर्तियों में मेढ़ा, कूबड़ वाला साँड तथा मानवाकार मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।

नाल के मृद्‌भांडों की मिट्टी हरिताभ और गुलाबी रंग के बीच की है जिस पर दूधिये रंग की स्लिप है, गहरी लाल स्लिप कम ही है। इसमें मुख्य आकृतियां हैं—अंतनत किनारे वाली कटोरियाँ, बेलनाकार पेटिका, पेंदेदार भांड। काले डिजाइन, लाल, पीले, नीले और हरे रंगों से भरे गये थे, जिनमें से केवल लाल रंग ही बर्तनों को पकाने के पूर्व लगाया गया था। डिजाइन खंडों में बने थे। पशु डिजाइनों में साँड, चीते और मछलियाँ बनाये गये थे। ज्यामितीय डिजाइन थे—सिग्मा, अंग्रेजी के W अक्षर, कंघी के प्रतिरूप तथा प्रतिच्छेदी वृत्त।

आवासीय क्षेत्र D के मृद्भांड बहुरंगी नहीं हैं। क्या यह कहना उचित होगा कि केवल शवाधानों से संबंधित मिट्टी के बर्तन ही अलंकृत किये गये थे तथा दैनिक इस्तेमाल में आने वाले बर्तन अनलंकृत थे? नाल के कब्रिस्तान तथा आवास क्षेत्र के संबंधात्मक विवाद के बारे में अध्याय 4 में विचार करेंगे। इस समय इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि पिगट और गार्डन के विपरीत डेल्स ने मुंडीगाक III के सादृश्य के आधार पर नाल के कब्रिस्तान को आवास क्षेत्र (D और F क्षेत्र के ऊपरी स्तर) के पहले का निर्धारित किया है।

D क्षेत्र से सेरुसाईट (Cerrusite) तथा सीसे का मल प्राप्त हुए हैं, जो सीसा प्रदावण (प्रगलन) की ओर इंगित करते हैं। नाल से प्राप्त हुए तांबे की वस्तुओं में बसूला, आरी, कुल्हाड़ी, छेनी, छुरा और मोहर का उल्लेख किया जा सकता है। इनमें से कुछ औजार (उपकरण) कुदाल के समान हैं।

(ii) किलीगुल मोहम्मद

किलीगुल मोहम्मद काल I संस्कृति में प्राग्-मृद्भांड (बल्कि निर्मृद्भांड) स्तरों से हड्डी और पत्थर के औजार और उपकरण मिलते हैं। काल II में चाक से बने काले रंग से चित्रित लाल रंग के मृद्भांडों का प्रादुर्भाव हुआ। कुछ अलंकृत डिजाइन हलफ शैली का स्मरण कराते हैं। इस काल में तांबा भी उपलब्ध हुआ। काल III में यद्यपि ईंटें, तथा अन्य सिंधु-सभ्यता के डिजाइन जैसे सांड और पीपल का पत्ता का आरंभ हुआ, फिर भी ईरानी प्रभाव निरंतर रहा।

फेयरसर्विस द्वारा दी गयी आधार सामग्री का विश्लेषण करने पर डेल्स ने उसके वर्गीकरण को दोषपूर्ण पाया क्योंकि काल II के मृद्भांडों के बारह प्रकारों में से दस चाकनिर्मित थे। डेल्स ने किलीगुल मोहम्मद के काल II या काल III को एक विशिष्ट संस्कृति इकाई के रूप में लिया जो उसके द्वारा वर्गीकरण किये गये प्रकाल C के अंतर्गत हैं।

क्वेटा पिशन जिले के दंबसदात से विभिन्न प्रकार के भांड प्राप्त हुए हैं। दंबसदात के काल I से निम्नलिखित चाकनिर्मित भांड प्राप्त हुए हैं : सरदार खुरदरा पांडु, केचिवेग आक्सीकृत, मुस्तफा मृदुकृत (Tempered), क्वेटा अभ्रकी, मलिक गहरीस्लिप, केची बेग पांडु पर काली स्लिप, केची बेग काली पर सफ़ेद स्लिप, केची बेग बहुरंगी, क्वेटा सतह पर काला, केची बेग लाल चित्रित इत्यादि। वली रेतीला तथा कंकर मृदुकृत भांड हस्तनिर्मित है। दंब सदात के काल II में हमें निम्नलिखित प्रकार प्राप्त हुए हैं, मियां गुंबई पांडु,

अलंकृत लाल, पांडु स्लिप, परिष्कृत स्लिप, मलिक गहरी स्लिप, क्वेटा पांडु पर काला, काली स्लिप पर लाल भूरा, फैज मोहम्मद सलेटी तथा क्वेटा आर्द्र भांड। सदात एक-रेखा भांड दंबसदात के तीसरे काल में ही सीमित है।

(iii) दंबसदात

दंबसदात से झोब के समान मातृदेवी को (केवल काल III से) गरुड़ीय नाक और गोल व बाहर निकली आंख वाली तथा (काल II तथा III में) निलंबी स्तन तथा समकोण में मुड़ी मृण्मूर्तियां प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त मकानों के खिलौने भी मिलते हैं। खानेदार मोहर, पकी मिट्टी की चूड़ियां, हड्डी, हाथी दांत, करकेतन, लाजवर्द, सेलखड़ी के मनके भी मिलते हैं।

यहां सीसे की कुछ कच्ची धातु भी मिली। दंबसदात के दूसरे और तीसरे काल से तांबे के कुछ टुकड़े तथा छुरे भी मिले। दंबसदात के पत्थर के चाकू समानांतर किनारे के हैं तथा एक सिरे से दूसरे सिरे तक उनकी मोटाई समान है।

कैचीबेग भांडों की समान रूप से उपस्थिति के आधार पर दंबसदात के काल I को किली गुल मोहम्मद के काल IV के बराबर माना गया है। आंजी के राना घुंडई IIIB तथा उनके कैचीबेग भांड के साम्य के फलस्वरूप इन्हें दंबसदात I के साथ रखा जा सकता है। यदि फैज मोहम्मद सलेटी भांड की सूर जंगाल स्लेटी से तुलना की जा सकती है तो दंबसदात II को राना घुंडई काल III के बराबर माना जा सकता है। रेखा छायांकित सांड, कंघी पैटर्न तथा पक्षी मूर्ति के समान प्रतिरूपों के आधार पर दंबसदात II और III की कुल्ली से भी तुलना की जा सकती है। दंबसदात II और III के हड़प्पा से सामंजस्य के आधार हैं—अंगूठे के नख से उत्कीर्ण मृद्भांड, छिद्रित बर्तन तथा पक्षी मृण्मूर्तियां। मोहनजोदड़ो के नीचे के स्तरों से क्वेटा आर्द्रभांड (Quetta Wet Ware) भी मिले हैं।

(iv) अंजीरा और स्याह दंब

बलूचिस्तान के कलात क्षेत्र में डी कार्डी ने उत्खनन किया। सुराब क्षेत्र में (अंजीरा तथा स्याह दंब स्थलों में) उसने पांच कालों का अनुक्रम प्रस्तुत किया। काल I में उपकरण अल्प मात्रा में प्राप्त हुए हैं। इस काल में चाकू-शल्क (Flake-blades) जो स्याल्क I-III से साम्य रखते हैं तथा लाल स्लिप वाले मृद्भांड मिलते हैं। अंजीरा में अर्ध-यायावर बस्ती के अवशेष मिले जो किलीगुल

मोहम्मद II के तुल्य है। दूसरे काल की कच्ची ईंटों की इमारतों की स्थायी बस्ती का प्रमाण है। सांस्कृतिक सामग्री किलीगुल मोहम्मद II-III के अनुरूप थी तथा लाल स्लिप वाले चमकीले मृद्भांड, जो बलूचिस्तान में अज्ञात हैं, तथा टोकरी के फ्रेम में बनाये गये अनगढ़ बर्तन भी मिले। दो सींग, जो संभवतः किसी छोटे वृषभ-मृण्मूर्तियों के भाग रहे होंगे, अद्वितीय हैं, क्योंकि अभी तक किलीगुल मोहम्मद संस्कृति में यह प्राप्त नहीं हुए हैं। तीसरा काल अंतर्वर्ती है जिसमें नयी वस्तु शैली तथा मृद्भांडों का प्रादुर्भाव हुआ। सियाह II में टोकरी के निशान वाले तथा किलीगुल मोहम्मद भांड सामान्यतः मिलते हैं। द्वितीय प्रकाल में एक अतिविशाल मंच का निर्माण किया गया जो बाद में ध्वस्त हो गया तथा तीसरे प्रकाल में पुनर्निर्मित किया गया। जरी भांड तथा परिष्कृत दूधिया स्लिप मृद्भांड काल III की विशिष्टता है। B अवस्था से प्रारंभ होकर, टोगाउ चित्रवल्लरी में अंतरण की पहले से तीसरे प्रकाल तक स्तरविन्यासात्मक दृष्टि से तीन अवस्थाएं देखी जा सकती हैं। इस काल की किलीगुल IV, तथा क्वेटा-केची बेग भांडों के आधार पर दंबसदात I से तुलना की जा सकती है। काल IV कुछ अंश तक दंबसदात II के क्वेटा संस्कृति के आधिपत्य के साथ पड़ता है। अंजीरा में विस्तार तथा पुनर्निर्माण इसकी विशेषता है। नाल के उत्कृष्ट भांड मुख्यतया दूधिया स्लिप वाले थे तथा विविध द्विरंगी तथा बहुरंगी डिजाइन इनमें बने थे। चित्र प्राकृतिक तथा ज्यामितिक शैलियों के थे। अंजीरा भांड प्रकार भारी बरतनों के लिए ही था। अंजीरा भांड कुल्ली संस्कृति से कड़ी स्थापित करता है क्योंकि यह शाहीटूंप के कुल्ली स्तरों में प्राप्त है। शाही टूंप में इस प्रकार का एक कटी-माडल प्राप्त हुआ था। काल V के निक्षेप काफी हद तक अपरदित (croded) हैं। तथापि वहाँ पेरिआनो वेट रिजर्व स्लिप भांड तथा राना घुंडई III C के डिजाइन प्राप्त हुए हैं। यद्यपि वहां से कोई भी धातु की वस्तुएँ प्राप्त नहीं हुईं तथापि अंजीरा III और IV काल से प्राप्त सान धातु के प्रयोग की ओर इंगित करते हैं।

(v) एडिथ शाहीर

दक्षिण-पूर्व में लास बेला जिले में एडिथ शाहीर समूह है जहाँ पंक्तिबद्ध शिलाखंडों से निर्मित इमारतें तथा सड़कें मिलीं। पत्थर की वीथियाँ क्रमशः ऊपर की ओर घटती हुई जिग्गुरात की योजना की याद दिलाती हैं। मृद्भांडों के आधार पर यहाँ की दो काल पहचाने गये हैं जिनमें काल II में हड़प्पा संस्कृति का प्रभाव देखा गया।

(vi) बामपुर

सुदूर पश्चिम में ईरानी बलूचिस्तान में डी कार्डी ने बामपुर में उत्खनन से छह काल पाये। वहाँ के प्रथम तथा द्वितीय प्रकाल में चाक से बने मृद्भांड प्राप्त हुए हैं जो दूधिया स्लिप वाले हैं। उन पर काले अथवा गहरे भूरे रंग से विभिन्न प्रकार के ज्यामितिक व पशु-चित्र डिजाइन बनाये गये हैं। इनका सूसा से सादृश्य है। बामपुर के काल III तथा IV का मुंडोगाक से संपर्क था किंतु कुल्ली संस्कृति से संपर्क के कोई प्रमाण नहीं मिलते। बामपुर के काल IV-V में उत्कीर्ण डिजाइन वाले सेलखड़ी के भांड प्रचलित थे। सूसा से प्राप्त ऐसा एक उदाहरण नरमसिन के काल (2291-2295 ई० पूर्व) का माना गया है। काल I से IV के मृद्भांडों की शैली में निरंतरता है। काल V में निश्चित रूप से अंतराल है। इस काल के मृद्भांड मिश्रित प्रकार के हैं जिसमें कुल्ली कलात, परवर्ती सुधा संस्कृति के तत्व देखे जा सकते हैं। काल VI में निश्चित स्थानीय शैली का प्रादुर्भाव हुआ। पुरातात्विक तर्कों के आधार पर डी कार्डी ने प्रथम काल को ईसापूर्व तीसरी सहस्राब्दी अथवा उससे थोड़ा पहले का कहा है।

(vii) कुल्ली

दक्षिणी बलूचिस्तान के कोलवा प्रदेश में कुल्ली संस्कृति के अनेक स्थल हैं। अनगढ़ पत्थरों की इमारतें तथा एशलर (Ashlar) चिनाई, पटिया वाली पटरियाँ, विविध शव-संस्कार (अंत्येष्टि संस्कार), विशिष्ट मृद्भांड, उत्कीर्ण खानेदार पत्थर के भांड, विचित्र स्त्री-मृण्मूर्तियाँ तथा कूबड़ वाले सांड इस संस्कृति की मुख्य विशेषताएँ हैं। तोजी और मजेना दंबसदात में जो संभवत: कुल्ली संस्कृति से ही संबंधित हैं, प्राचीर के अवशेष देखे गये। यहाँ कब्रिस्तान से ताम्र-कांस्य उपकरणों के प्रचुर उदाहरण मिले हैं। वहाँ से प्राप्त एक ताम्र दर्पण, एक स्त्री के रूप में बना मूठ वहाँ के विशिष्ट उदाहरण हैं।

यहाँ के भांडों पर गुलाबी जैसी अथवा पांडु तथा सफेद अथवा सफेद जैसी स्लिप लगायी जाती थी। यहाँ के विशिष्ट चित्रित अलंकरण निम्न हैं। मंडलों में विभाजित असादृश्यमूलक डिजाइन जिनके बीच यदा-कदा पूरे भांड के चारों ओर बनायी गयी चित्रवल्लरी है जिसमें पशुओं और वनस्पति का स्वाभाविक चित्रण किया गया है। अनोखे रूप से दीर्घकाय पशु (साधारणत: कूबड़ वाले सांड), सांकेतिक भू-दृश्य, विशाल गोल आँखें, रूढ़ो कृत बकरियाँ तथा अंतराल को भरने के लिए कई अन्य डिजाइन (रिक्ततामय या Horror Vacui) मुख्य है। "पशुओं के साथ भू-दृश्य," सूसा तथा दियाला क्षेत्र के "स्कार्लेट वेयर" से

संबद्ध हैं। टोकरी तथा अन्य प्रकार वाले पत्थर के भांडों के समरूप उदाहरण मेसोपोटामिया में प्राप्त हुए हैं। कुल्ली के हड़प्पा से सांस्कृतिक तथा कालगत संबंध स्पष्ट नहीं हैं, किंतु ऐसा लगता है कि कुछ महत्वपूर्ण संबंध रहे होंगे। हाल ही में फारस की खाड़ी में अबूधाबी से पहली बार महत्वपूर्ण संबंध के प्रमाण प्राप्त हुए हैं। डेल्स के अनुसार कुल्ली के निवासी हड़प्पा और मेसोपोटामिया के व्यापारिक तथा सांस्कृतिक संबंधों में मध्यस्थता का काम करते रहे होंगे। संगोरा शवाधानों से प्राप्त चित्रित भांड ही इसका मुख्य प्रमाण हैं। यह अलंकरण कुल्ली प्रकार का है। कुल्ली सदृश लघु-मूर्तियाँ दक्षिणी बलूचिस्तान से प्राप्त प्राचीनतम स्त्री मूर्तियाँ हैं।

दक्षिणी ईरान तथा मेसोपोटामिया से महत्वपूर्ण समानताओं के कारण यह संभव है कि कुल्ली संस्कृति का मौलिक विकास नाल संस्कृति समूह से ही हुआ हो। यद्यपि क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से नाल (बहुरंगीय) तथा कुल्ली संस्कृति के स्थल परस्पर व्यापी हैं किंतु इन दोनों क्षेत्र का विस्तार स्पष्ट रूप से भूतल की ऊँचाई की दृष्टि से समझा जा सकता है। नाल संस्कृति की बस्तियाँ 1000 से 1300 मीटर के मध्य ऊँचाई वाले इलाके में मिलती हैं (संक्षेप में पहले वर्णन किया जा चुका है), जबकि कुल्ली संस्कृति की बस्तियाँ निचली ऊँचाई वाले मंडलों में 700 मीटर तक स्थित हैं। नाल तथा आम्री के भांड संग्रहों में आकार तथा चित्रित डिजाइनों की दृष्टि से कई समानताएँ देखी जा सकती हैं। नाल, कुल्ली तथा आम्री संस्कृतियों के इस सांकेतिक कालगत संबंधों की कुछ हद तक पुष्टि निंदोवरी के उत्खनन के विवरण से होती है। निंदोवरी से नाल कब्रगाह के बाद के मृद्भांड, जिन पर विशिष्ट वानस्पतिक अथवा बुक्रेनियम "सदात" डिजाइन बने हैं, ठेठ कुल्ली मृद्भांडों के साथ मिले हैं। निंदोवरी के पहले दो उत्खननों में केवल एक नाल ठीकरा (तथा आम्री का कोई भी नहीं) प्राप्त हुआ।

(viii) पीराक दंब

बलूचिस्तान में कच्ची मैदान के इलाके में पीराक दंब से एक दुरंगा भांड-प्रकार प्राप्त हुआ। जिसका राइक्स के अनुसार ईराक के स्तरों निनेवेह III तथा अर्पाचियाह से घनिष्ठ संबंध है। उनके अनुसार वास्तव में इसके आधार पर पीराक का काल काफी पहले का (लगभग 5000 ई० पूर्व) माना जा सकता है। इसी कारण पीराक से बलूचिस्तान की उत्तरकालीन ताम्राश्मीय संस्कृतियों का सीधा सांस्कृतिक विकास ज्ञात करना संभव नहीं। पीराक भांड के कालानुक्रम

के विवाद में पड़ने के बजाय हम केवल इतना ही कहेंगे, कि डेल्स ने इसे अपने केवल D प्रकाल में ही सम्मिलित किया है।

पिराक ढंब के मुख्य मृद्भांडों की विशेषता निम्नलिखित है :

दूधिया अथवा पांडु स्लिप पर काले अथवा भूरे जैसे रंगों का प्रयोग, तिरछे डिजाइनों के प्रति स्पष्ट अभिरुचि, स्लिप तथा अन्य रंग द्वारा बनाया गया जटिल जाली का काम, बहुत से त्रिकोण, सरल रेखीय (Rectilinear) प्रतिरूप, खड़ी रेखाओं द्वारा विभाजित विभिन्न बनतखंडों (Design-panel) के डिजाइन इत्यादि। अधिकतर सादे भांड हस्त-निर्मित हैं। अलंकृत भांड मंद गति के चाक में बनाये गये हैं। पूरे ढंब में चाक पर बने भारी, अनलंकृत सलेटी रंग के भांड के टुकड़े छितरे पड़े मिलते हैं। इन भांडों के साथ खांचेदार फलक (Notched blades) भी प्राप्त होते हैं जो विशिष्ट प्रकार हैं।

यह क्षेत्र सामान्यत: गिरिपाद तथा सिंधु के मैदानी इलाके के द्विरंगी भांडों की परंपरा का ही एक हिस्सा माना जा सकता है।

(ix) राना घुंडई

फोब घाटी में राना घुंडई से पूरा सांस्कृतिक अनुक्रम प्राप्त हुआ है। प्रथम काल में किसी भी प्रकार की इमारतें नहीं थीं तथा हस्तनिर्मित अचित्रित मृद्भांड, फ्लिंट के बिना चमक के चाकू, हड्डी की नुकीली सूई, नाकेदार सूई आदि इस काल की विशेषता है। सांड (Bos indicus), भेड़ (Ovis vignei), गधे (Equus asinus) जानवरों की हड्डियों के अलावा घोड़े (Equus caballus) के चार दांत भी यहां से प्राप्त हुए। पहले काल के अवशेषों से आभास होता है कि इस काल में यह स्थल यायावर घुड़सवारों का पड़ाव शिविर था।

दूसरे काल की विशेषता उत्कृष्ट चित्रायुक्त चाक-निर्मित मृद्भांड हैं। कूबड़ वाले सांड तथा काले मृग पांडु-पर-काले रंग के बनाये गये हैं तथा इनका हिस्सार काल I से साम्य है। कुल्ली के विपरीत, इनमें पशुओं का दीर्घीकरण सपाट न होकर लंब है। मकानों की नींव में शिलाखंड लगाये गये थे। इस संक्षिप्त काल के बाद के निक्षेप अवशेष रहित थे। किंतु काल III काफ़ी बड़ा है तथा इसमें पूर्ववर्ती काल की परंपरा की निरंतरता देखी जा सकती है। चित्रण की लाल-पर-लाल तकनीक इस काल में आरंभ हुई। इन द्विरंगी विधि से बने बहुल रेखा के वर्ग तथा पीठिका में लंब रेखाएं झाओ का स्मरण कराती हैं। काल III B में सुराही के समान भांड बनने लगे, काल IIIC में चित्र

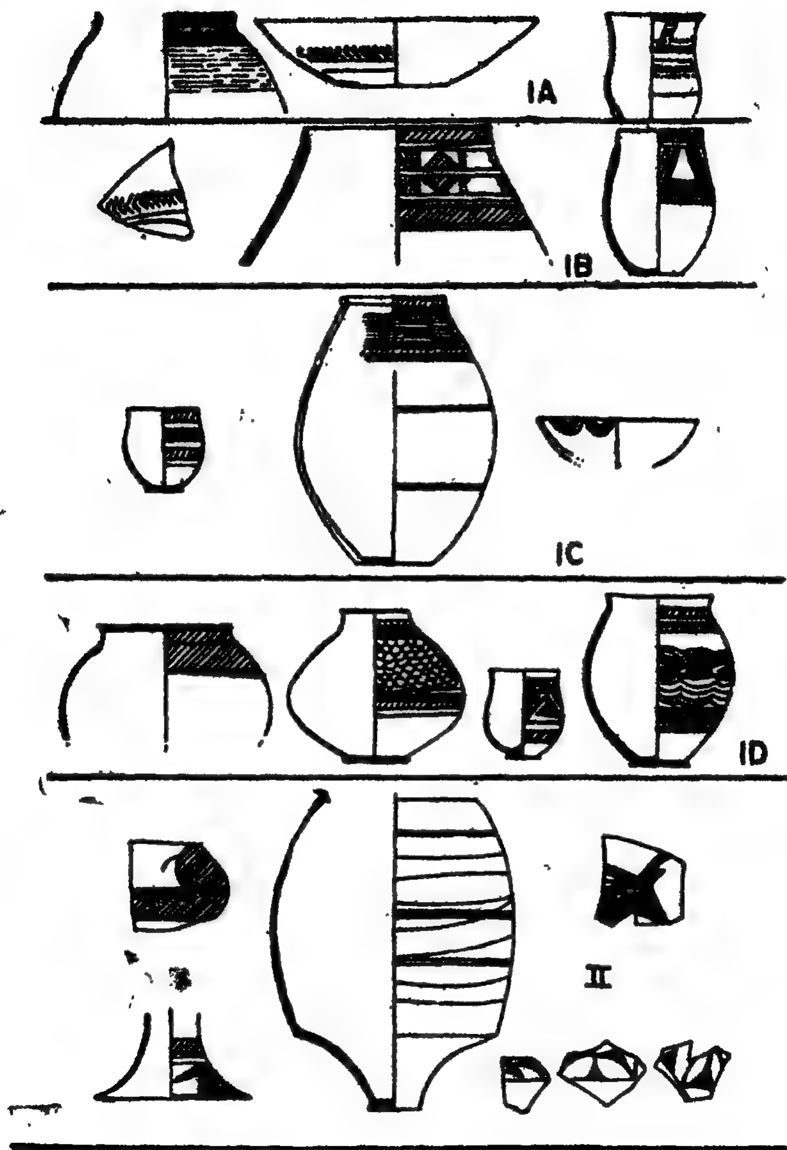
अपरिष्कृत है तथा पृष्ठभूमि में लाल रंग के अधिक गहरे होने के प्रमाण स्पष्ट हैं। काल III C का अंत संभवतः आग लगने तथा हिंसात्मक घटना से हुआ। काल IV और V पूर्ववर्ती काल से सर्वथा अलग है। काल IV में अपरिष्कृत कटोरे मिलते हैं जिनमें भद्दे चित्र बने हैं। काल V में चित्रण की परंपरा भी समाप्त हो गयी तथा उसके बजाय डिजाइन जड़े गये हैं।

पिगट ने नाल और सूरजंगल की राना घुंडई III C से तुलना की है। नाल में शिलाखंडों की नींव पर बने कच्ची ईंटों के मकान (जिनकी दीवारें 5 फुट से 13 फुट लंबी हैं) तथा मुगल गुंडई में परकोटे से संकेत भी मिले हैं। पेरिआनो IIIC की राना घुंडई IIIC से तुलना की गयी है। यद्यपि केश विन्यास युक्त, आंख के लिए गोल छिद्र तथा कठोर मुखमुद्रा वाली मिट्टी की बनी नारी की लघु मूर्तियां तथा सांडों की अनगढ़ लघु मूर्तियां राना घुंडई के उत्खनन से प्राप्त नहीं हुई हैं फिर भी वे RG III संग्रह का संभवतः भाग मानी जा सकती हैं। चकमक पत्थर के बने नोकीले औजार, पर्णाकार बाणाग्र तथा सेलखड़ी के प्याले इस काल की विशेषता हैं। पेरिआनो गुंडई से एक तांबे की छड़ तथा एक छल्ला प्राप्त हुआ। सूरजंगल, पेरिआनो गुंडई, और मुगल गुंडई के संगोरा शवाधानों से प्राप्त वहन की गयी हड्डियां संभवतः RG III की हैं क्योंकि RG III के ठीकरे ऊपरी तलों से प्राप्त ठीकरों से मिलते हैं। स्टाईन द्वारा उत्खनित मुगल गुंडई के संगोरा शवाधानों से क्वाल्क B प्रकार के अवशेष मिले, किंतु पेरिआनो गुंडई तथा इस स्थल में दाहसंस्कार शवाधान भांडों में थे जिनमें से एक कमरे के फर्श के नीचे तथा एक दीवार में भांडों के साथ मिले।

(ग) सिंधु

(i) आम्री

सिंधु घाटी में आम्री के उत्खनन से चार कालों का क्रम मिला है। काल IA में हस्तनिर्मित (अधिकांश बिना किनारे वाले) तथा ज्यामितिक डिजाइन वाले मृद्भांड तथा टोगाउ ठीकरे मिलते हैं। कुछ चाकनिर्मित भांड, चर्ट के बने चाकू तथा तांबे के टुकड़े भी मिले हैं किंतु कोई इमारत नहीं मिली। काल IB में कच्ची ईंटों की इमारतें, भिन्न डिजाइन, सपीठ थालियां, हड्डी तथा चर्ट के उपकरण मिलते हैं। काल IC में चार संरचनात्मक तल हैं। यह काल चरमोत्कर्ष का है। टीले में संभवतः श्रमिकों के आवास थे। काल ID यद्यपि अल्पकालीन था फिर भी इस काल में बलूचिस्तान और अफगानिस्तान से निरंतर



आरेख 4
आम्री संस्कृति के मृद्भांड प्रकार

संबंध रहे। अंतर्वर्ती काल II में दो प्रकाल हैं। डेल्स ने इस काल में अफगानिस्तान (मुंडीगाक IV) से वास्तु-परक तथा मृत्तिका-शिल्प संबंध पाये हैं। इस काल के पहले भाग में आम्री मृद्भांड लगातार मिलते हैं किंतु कुछ हड़प्पा मृद्भांड प्रकार भी आरंभ होने लगे। काल IIIB में परकोटे के अवशेष तथा मंचों पर स्तंभों के लिए बने गड्ढे भी देखे जा सकते हैं। इस काल का अंत हिंसात्मक कारणों से हुआ प्रतीत होता है। काल III हड़प्पा का है, काल IIIC में मृद्भांडों के प्रकार तथा अलंकरण में नवीनता परिलक्षित होती है। काल IIID झूकर तथा काल IV झंगड़ संस्कृति का है।

फ़ेयरसर्विस के अनुसार "......पीपल के पत्ते, मिसा के पत्ते (Willow Leaf), अतिव्यापी शल्क, रेखा-छाया त्रिकोण प्रतिरूप (पैटर्न), पट्ट में बने मृग अथवा साकिन तथा आम्री-नाल बहुरंगी शैली, आम्री-नाल तथा हड़प्पा शैलियों के निकट संबंधों की ओर इंगित करते हैं।" घोष के अनुसार यह उत्पत्ति मूलक निकट संबंधों के संकेत हैं। किंतु कजाल ने इस बात पर जोर दिया है कि आम्री में हड़प्पा के तत्त्व पूर्णतया विकसित रूप में ही प्राप्त हुए हैं और इसी कारण हड़प्पा संस्कृति की उत्पत्ति आम्री-संमिश्र से होने की संभावना नहीं है। हड़प्पा सभ्यता धीरे-धीरे आम्री के ऊपर छा गयी। कजाल के अनुसार "हड़प्पा के रूप आम्री में अंतर्वेधी हैं।"

बीकानेर क्षेत्र में सरस्वती तथा दृषद्वती के अन्वेषण में घोष को इतर हड़प्पा ठीकरे मिले जो अब कालीबंगन के काल I से तादात्म्य रखते हैं। घोष ने इस संस्कृति को सोथी संज्ञा दी यद्यपि यह अभी तक प्रचलित नहीं हो सकी है।

(ii) कोटदीजी

कोटदीजी से प्राक्हड़प्पा काल (4 से 16 स्तर) एक मिश्रित तल IIIA काल तथा हड़प्पा संस्कृति (IA से III) के अवशेष प्राप्त हुए हैं। कोटदीजी और हड़प्पा संस्कृतियों का विभाजन एक भस्मसात स्तर द्वारा हुआ है। कोटदीजी संस्कृति की आरंभिक अवस्था में मुख्यतः बिना गर्दन तथा बिना किनारे वाले आकार के बर्तन भी मिलते हैं। बाद की अवस्थाओं में बर्तनों में गर्दन बनायी जाने लगी तथा काले और सफेद रंगों के डिजाइन भी बनने लगे। आरंभ की पट्टी, बहुल पाश (Multiple loops) तथा अनेक रेखाएं ही बाद में मत्स्य-शल्क डिजाइन में विकसित हुईं। खान के विचार में हड़प्पा शैली के मत्स्य-शल्क डिजाइनों का उद्भव कोटदीजी से हुआ। सामान्यतः कोटदीजी के

मृद्भांड पतले और उत्कृष्ट हैं तथा अच्छी तरह घोटी गयी मिट्टी से चाक-निर्मित हैं। इनकी पृष्ठभूमि का रंग गुलाबी से लेकर लाल है। पट्टियां लाल भूरे, सीपिका और काले रंग से दूधिया स्लिप के ऊपर बनायी गयी है। उत्तरकालीन स्तर में सपीठ थालियां आम हो गयीं तथा तुलनात्मक दृष्टि से कोटदीजी में यह अधिक नाजुक किस्म की हैं। बाद के प्रकालों में ज्यामितिक डिजाइन का भी प्रयोग किया गया है। सींग वाले देवता के अतिरिक्त कहीं भी वनस्पति अथवा पशु डिजाइन प्रयुक्त नहीं किये गये।

ब. राजस्थान

राजस्थानी रेगिस्तान, सिंध, राजस्थान, पंजाब व गुजरात के क्षेत्रों में एक विस्तृत भू-भाग में फैला है जिसे अरावली पहाड़ियाँ दो भागों में बिभाजित करती हैं। इसके उत्तर-पश्चिम में थार रेगिस्तान है, और दक्षिण-पश्चिमी भाग में पहाड़ियाँ और पठार हैं। उत्तर में घग्गर और सरस्वती नदियाँ हैं, जो अब सूख गयी हैं। इस क्षेत्र में पूर्व-हड़प्पा व हड़प्पा स्थल मिलते हैं, तो दक्षिण-पूर्व में माही व बनास नदियों के क्षेत्र में बनास संस्कृति के अवशेष मिलते हैं।

(i) कालीबंगन

लाल और थापड़ ने घग्गर की घाटी में स्थित इस स्थल का उत्खनन किया। एक विस्तृत टीले से, कालीबंगन प्रथम काल की प्राग्हड़प्पा कालीन, एक दुर्ग की दीवार मिली। प्रयुक्त कच्ची ईंटों का आकार 30 × 20 × 10 से०मी० है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राकृत तल (Natural soil) से 160 से०मी० औसत ऊँचाई वाले तल पर, यह बस्ती कुछ समय के लिए, संभवतः भूकम्प के कारण, त्याग दी गयी थी। इस तल पर रेत की एक परत मिलती है। उपर्युक्त घटना हड़प्पा संस्कृति की समकालिक होने से सम्भवतः सैंधवों के आगमन के कारण शीघ्र ही यह बस्ती फिर बस गयी। तत्पश्चात टीले का संरचनात्मक स्वरूप ही बदल गया। काल I से तांबे के केवलमात्र कुछ टुकड़े ही मिले हैं। लाल से लेकर गुलाबी रंग के हलके, पतले मृद्भांड चाकनिर्मित हैं। निष्प्रभ-सी सतह पर काले व सफेद मिश्रित रंगों से अलंकरण किया गया है। इन पर निम्नलिखित विविध प्रकार के डिजाइन बने थे यथा—जालीदार त्रिकोण, छत्राकार शंख, मूंछ-नुमा द्वि-पट्ट, नतोदर किनारे वाले त्रिकोण, और हिरन, साकिन, सांड, बिच्छू, बतख आदि का नैसर्गिक चित्रण; मृद्भांडों के कंठ पर चौड़े पट्, तितली, सैंधव शल्क, बुकरानियम के डिजाइन चित्रित हैं। मृद्भांडों की रचना और अलंकरण

की दृष्टि से, शापड़ ने इनको A से F वर्गों में विभाजित किया है। C वर्गों के भांडों का सतही रूप क्वेटा मार्ई भांड के अनुरूप है। उत्कीर्ण अलंकरण और अपेक्षाकृत मजबूत मृद्भांड वर्ग D की विशेषताएँ हैं।

(ii) हड़प्पा संस्कृति

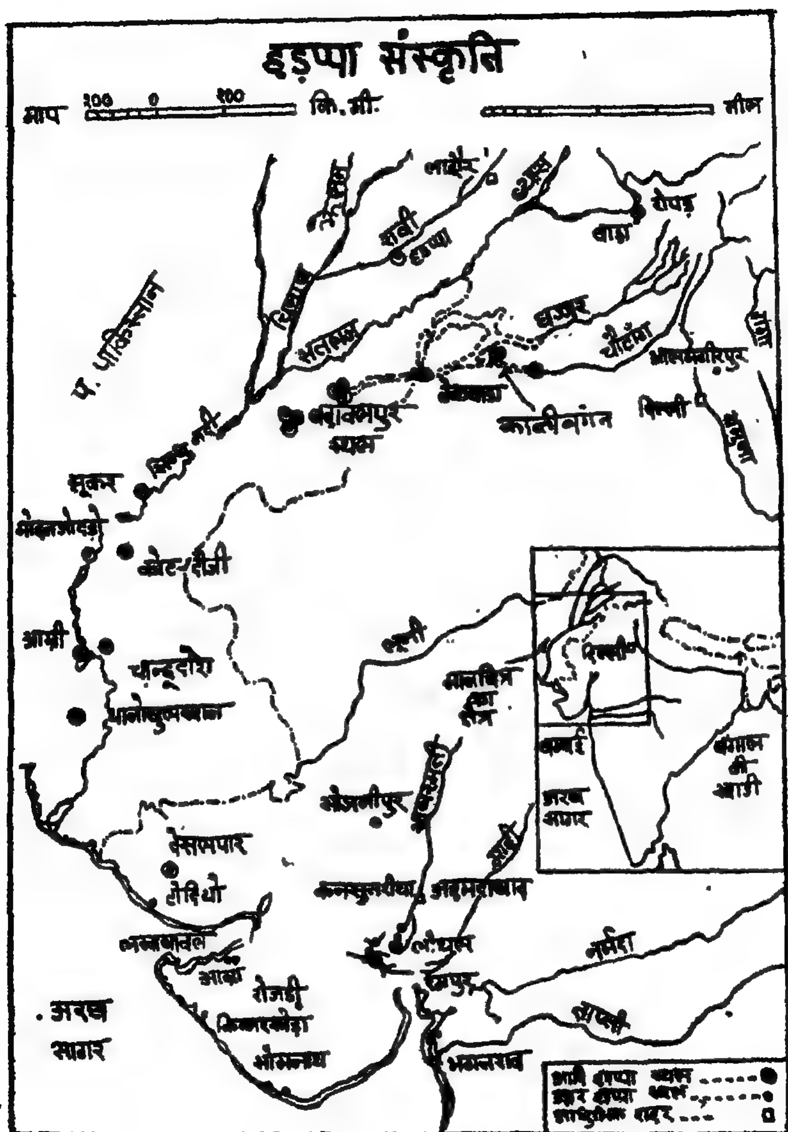
हड़प्पा संस्कृति के अवशेष एक विस्तृत भू-भाग में मिलते हैं। कुछ विद्वानों के मतानुसार इस संस्कृति का फैलाव लगभग 8,40,000 वर्ग मील में था। पूर्व से पश्चिम में इसका विस्तार आलमगीरपुर से सुत्कगनडोर व उत्तर-दक्षिण में ढेरभाजरा से मलवन तक है, (आरेख 5)। यह विवादास्पद है कि इस संस्कृति का इतना विस्तृत फैलाव थोड़े ही काल में हुआ था; इसके व्यापन में लंबा समय लगा। इसकी विवेचना हम अध्याय 4 में करेंगे। एक निश्चित पारिस्थितिकीय परिवेश में हड़प्पा संस्कृति का विकास, उसकी एकरूपता तथा दूसरी संस्कृतियों से भिन्नता की हम अध्याय 2 में विवेचना कर चुके हैं।

व्हीलर के मतानुसार हड़प्पा संस्कृति की निम्नलिखित विशिष्टताएँ हैं :—

(i) सैंधव मोहरें, (ii) सैंधव लिपि, (iii) अंतर्भेदी वृत्त डिजाइन, शल्क प्रतिरूप, पीपल का पत्ता, सैंधव शैली में चित्रित मयूर, (iv) नुकीले आधार वाले चषकनुमा आकार (कुल्हड़), बहुल छिद्रित बेलनाकार पात्र, S-पार्श्वक मर्तबान आदि (आरेख 6)। मोटे मजबूत लाल स्लिप वाले मृद्भांडों की सपीठ थालियाँ (ये हड़प्पा संस्कृति से बाहर भी मिलती हैं), (v) पकी मिट्टी के त्रिकोण, केक (vi) काचली मिट्टी और शंख के जटिल वृक्क (Kidney) आकार, (vii) नलाकार छिद्रवाले चक्रिक मनके।

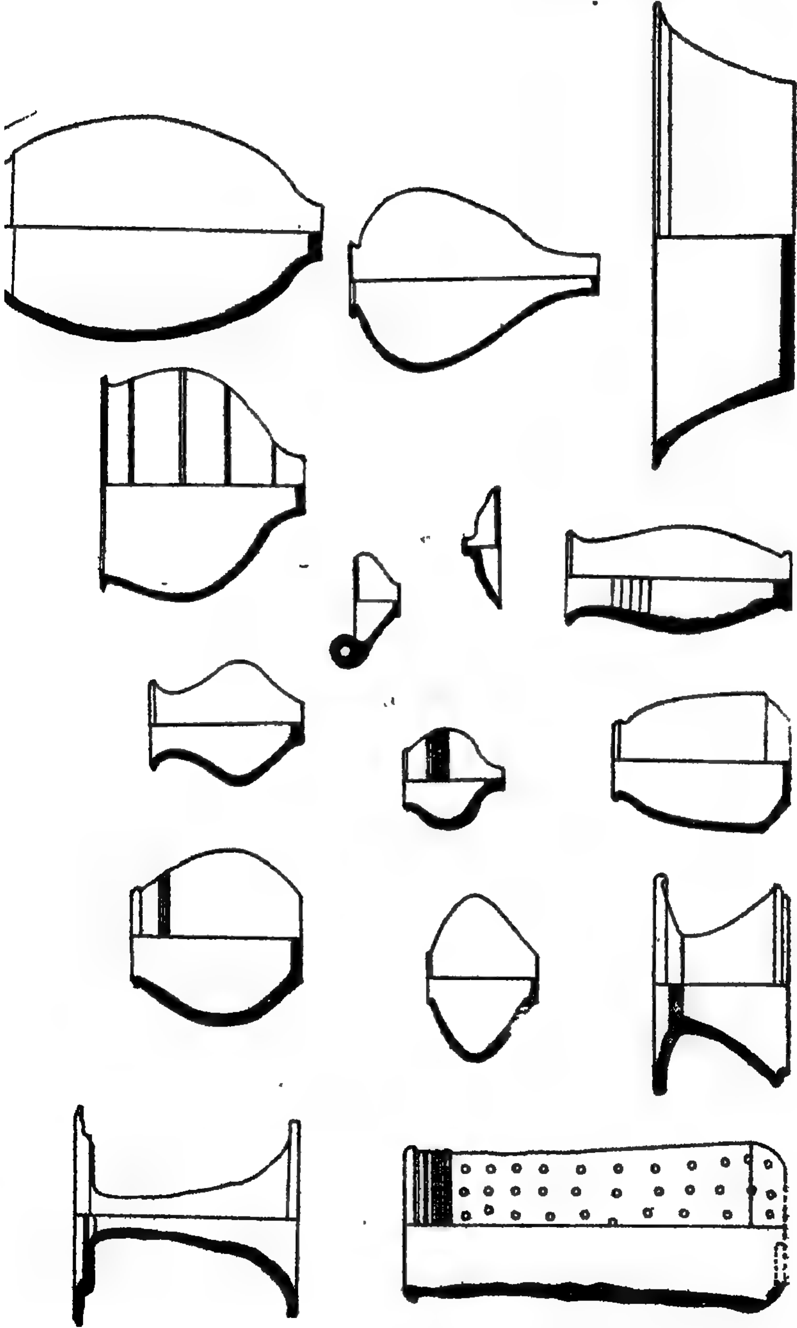
अन्य विशिष्टताओं में हम निम्नलिखित धातु के उपकरणों को गिना सकते हैं : उस्तरा चाकू, मुड़े सिरे के पत्राकार फलक, चौड़े सिरे की छेनी, कांटेदार बाणाग्र, (मछलीमार कांटे आदि)। तुलादंड भी हड़प्पा की अभूतपूर्व देन है। इनके अतिरिक्त सड़कों और मकानों की ऐसी योजनाबद्ध संरचना किसी दूसरी समकालीन संस्कृति में नहीं मिलती।

सभी हड़प्पा स्थलों की उपर्युक्त विशिष्ट विशेषताएँ हैं। अतः हड़प्पा संस्कृति के मुख्य स्थलों की समान विशेषताओं के बजाय हम उनकी भिन्नताओं पर प्रकाश डालेंगे।



मारेख 5

हड़प्पा संस्कृति के स्थल



प्रारेख 6—हड़प्पा संस्कृति के मृद्भांड प्रकार

द्वारा सफाई करने के लिए बनाये गये थे। दुर्ग आदि के निर्माण में, बाढ़ से बचाव के लिए कई सावधानियां बरती गयी थीं। DK क्षेत्र में कम से कम तीन भीषण बाढ़ों ने अपने अवशेष छोड़े हैं। उत्तर कालीन चरणों में ह्रास के बहुत बड़े प्रमाण उपलब्ध होते है।

मोहनजोदड़ो से नियमित शवाधान नहीं मिलते, फिर भी अस्थि-कलश के साथ कोयला और राख व फुटकर शवाधान सामग्री प्राप्त हुई है। कालीबंगन के निचले स्तरों में भी अस्थि-कलश संभवतः अंत्येष्टि संस्कार में उपयोग किये जाते थे। लेकिन मोहनजोदड़ो के विपरीत वहां शवाधान कब्रगाह क्षेत्र में मिलते हैं।

ताम्र व कांसे के भाले, चाकू, छोटो तलवारें, बाणाग्र, कुल्हाड़ी, उस्तरे, पात्र और तवा आदि उपकरण प्रचलित थे। जूते के फर्मे के प्रकार की कुल्हाड़ियों का प्रयोग किया जाता था। सीमित रूप में इनका तथा बहुल प्रकार के चर्ट फलकों का उपयोग कृषि-कार्य के लिए भी शायद होता था। पत्थर के बर्मे व गदा-सिर आदि शिल्प उपकरण भी प्रचलित थे।

मोहनजोदड़ो से उपलब्ध एक मोहर व एक ठीकरे पर रेखांकित एक विशेष प्रकार के जहाज के चित्र से प्रतीत होता है कि पोत-परिवहन होता था। संभवतः ऊंट, गधे व घोड़े भी यातायात के साधन थे। बैलगाड़ी के प्रयोग का आभास हमें ठोस पहियों वाली गाड़ी के एक खिलौनों से होता है। इसकी पुष्टि चांहुदड़ो से प्राप्त चार पहियों की गाड़ी से होती है। सैंधवों के हाथी को पालतू बनाने के विषय मे अटकलें ही लगायी जा सकती हैं। कूबड़दार चौपाये, सुअर, (?) कुत्ता और बिल्ली अन्य पालतू जानवर थे।

रुपये के परंपरागत 16 : 1 अनुपात की तरह ही छोटे तौल भार द्विकर्मी अनुपात (1,2,1/3×8,8,16,32···से 12800) और उच्च तौल भार दशमलव अनुपात में थे, भिन्नात्मक तौल 1/3 थी। संभवतः उनका फुट 13.2″ का दशमलव विभाजन वाला था। 0.367″ प्रमाण वाली एक कांस्य छड़ क्यूबिट पद्धति का प्रचलन इंगित करती है।

विशेष (Triticum compactum और Triticum sphaero coccum) किस्म के गेहूं और जौ (Hordeum vulgare) के अवशेष मिले हैं। आटा पीसने के लिए सिल-बट्टा (Sadde quern) प्रयुक्त होता था। जले हुए मटर, खरबूजे के बीज, तिल और खजूर की गुठलियां भी मिली हैं। सूती कपड़े और सन के रेशे से निर्मित वस्तुएं भी प्रचलित थीं।

(iii) कोटदीजी

खान के मतानुसार कोटदीजी में एक आदि हड़प्पा स्तर मिला है, जिससे चित्रित मृद्‌भांड सामान्यतः नहीं मिलते। इस स्तर के मृद्‌भांडों में मोर, मृग, मत्स्य-शल्क और जुड़ी हुई गेंदों आदि का अपरिष्कृत चित्रण हुआ है। मृद्‌भांडों की लाल स्लिप कच्ची है। कोटदीजी के विस्तृत हड़प्पा स्तर से कांस्य (?) की चपटी कुल्हाड़ी फलक, बाणाग्र, छेनी, अंगूठी, दोहरी व इकहरी चूड़ियां आदि मिली हैं।

(iv) रोपड़

यह हड़प्पा संस्कृति का उत्तरी सीमा का स्थल है जो कि सतलज क्षेत्र के मैदानी क्षेत्र में शिवालिक पहाड़ियों के चरणों में बसा है। इमारतों के अवशेषों में नदी के रोड़े, कंकड़ और पकायी हुई व कच्ची ईंटों का प्रयोग किया गया है। मृद्‌भांडों में विविधता मिलती है। कुल्हड़ बहुत कम संख्या में मिले हैं, ऊपरी सतहों में तो मिलते ही नहीं। कब्रगाह आवास क्षेत्र से 160′ दूर है। यह कालांतर में गढ़ों द्वारा बहुत क्षतिग्रस्त हो गया था। विस्तारित शवाधान वाली कब्रें लगभग 8′ × 3′ × 2′ आकार की हैं। इन कब्रों में सिर उत्तर पश्चिम दिशा में रखा गया था। अधिकांश शवाधानों के साथ मृद्‌भांड (2 से 26 तक) मिलते हैं। लेकिन एक उदाहरण ऐसा मिला है जिसमें पहले मृदभांडों को क्रमवार रख कर मिट्टी से ढका गया। तत्पश्चात् शव रखा गया संभवतः व्यक्ति के पदानुसार ही मृद्‌भांड शवाधान के साथ रखे जाते थे। इस स्थल से मातृ देवी की कोई भी मूर्ति नहीं मिली, लेकिन पीठ पर बिना उभार वाली, एक सेलखड़ी की मोहर उपलब्ध हुई है।

(v) आलमगीरपुर

मेरठ जिले में, यमुना नदी की सहायक नदी हिंडन के तट पर स्थित, आलमगीरपुर हड़प्पा संस्कृति का पूर्वी स्थल है। चकले, रीछ और सांप की मृण्मूर्तियां प्रमुख उपलब्धियां हैं।

ख—राजस्थान

(1) कालीबंगन

कालीबंगन सूखी हुई घग्गर नदी के तट पर स्थित एक प्रसिद्ध हड़प्पा स्थल है। लाल और थापड़ ने इसका उत्खनन किया और इसके दो टीलों से प्राक्हड़प्पा

व हड़प्पा संस्कृतियों के अवशेष खोज निकाले। प्राग्हड़प्पा स्तर की ही दीवारों को सैंधवों ने किलेबंदी के लिए ऊँचा उठाकर उनमें ही उत्तर और दक्षिण भाग में बहिर्गत दीवारें, बुर्ज व प्रवेश द्वार बनाये। बुर्ज के अंतर्गत हड़प्पा के विपरीत, किसी भी स्थान पर परकोटा किसी भी मंच के साथ बद्ध नहीं है। रास्तों व आम मार्गों की चौड़ाई 1.8 और 7.2 मीटर के बीच थी। ये सड़कें 1.8 मी. की इकाई की नाप से बनी हैं। यह इकाई न बड़े फुट (13.2″) न कुबिट 120.6″) के अनुरूप है इसलिए महत्वपूर्ण है, सड़कों पर नालियां न होने के कारण पानी ने सड़कों को काट दिया था।

दीर्घकाय व सांडों की जुड़वां पैरों वाली विशिष्ट प्रकार की मृण्मूर्तियां मिली हैं। मृण्मूर्तियों के नर-सिरों व और आक्रामक सांड का मोहनजोदड़ो के नमूनों से बहुत साम्य है।

विभिन्न स्तरों के मकानों का एक उल्लेखनीय लक्षण यह है कि उनके अग्नि-कुंड अंडाकार या आयताकार हैं। इनका महत्व क्या था, यह अभी तक अज्ञात है। इनके बनाने की विधि निम्न थी। सर्वप्रथम एक उथला गर्त खोदा गया जो आकार में अंडाकार या आयताकार था। इस गर्त में आग जलायी जाती थी और मध्य में मिट्टी का एक बेलनाकार या आयताकार (धूप में सुखाया हुआ या पकाया हुआ) मूसल सा जमाया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि पकी मिट्टी के केक धार्मिक कृत्यों के लिए प्रयुक्त होते थे। प्रत्येक मकान में अग्नि-कुंड बने हुए थे जो कि लोथल के अग्नि-कुंडों का स्मरण दिलाते हैं। दोनों ही टीलों में प्राग्हड़प्पा व हड़प्पा मृद्भांड साथ-साथ मिलते हैं। प्राप्त सामग्री में बेलनाकार मोहर उल्लेखनीय है।

शवाधान तीन प्रकार से किया जाता था। (i) विस्तारित शवाधानों के साथ अंत्येष्टि पात्र रखे जाते थे; (ii) वृत्ताकार गर्त शवाधान में बिना अस्थि अवशेषों के, अस्थि पात्र व अन्य लघु पात्र रखे जाते थे; (iii) आयताकार गर्त के साथ, बिना अस्थि अवशेषों के, अंत्येष्टि पात्र रखे जाते थे। अंतिम प्रकार के शवाधान से प्रतीत होता है कि पात्रों को गर्त में रखने व उन्हें अंतिम रूप से भरने में समय लगा होगा। 70 पात्रों वाली कच्ची ईंटों से चिनी कब्र संभवतः किसी धनाढ्य व्यक्ति की रही होगी। इस कब्र में लिटाये गये अस्थि पंजर का सिर उत्तर की ओर रखा गया था। शवाधानों के इस वर्गीकरण का आधार ज्ञात नहीं हो सका है। एक स्थान पर एक पात्र—शवाधान के गर्त ने एक आयताकार कब्र को काटा है।

घरेलू कचरा व जानवरों के अवशेष फर्श में पड़े मिले हैं। इनमें भैंसा, हाथी, ऊंट, बकरी, गधा, चीतल, मुर्गा, कछुआ, गैंडा तथा बड़ी संख्या में सीपों के अवशेष उल्लेखनीय हैं। सड़कों पर कूड़े व पशुओं के अवशेष बिखरे पड़े मिले। सड़कों पर नालियां खुलती थीं। कालीबंगन की सड़कों पर जल निकास व्यवस्था की अनुपस्थिति, वहां के नागरिक-मानों के ह्रास की द्योतक है।

कालीबंगन के प्राग्हड़प्पा व हड़प्पा सांस्कृतिक स्तरों से प्राप्त समान डिजाइन निम्नलिखित हैं : मत्स्य शल्क, पीपल का पत्ता, रेखांकित चिह्न सहित रस्सी के निशान; सपीठ थालियों का आकार, ढक्कन, बैल और छकड़ा गाड़ी, सीप और पकी मिट्टी की चूड़ियां, सेलखड़ी के चक्रिक मनके, चक्की का पत्थर, धातुशोधन का ज्ञान, चिनाई में इंगलिश बांड (English bond) का प्रयोग और नगर की किलेबंदी। इसके विपरीत ईंटों के आकार में, काल I में मोहरों का अभाव, भांडों के प्रकार, मकानों का दिशा-निर्धारण, व फलक के आकार व सामग्री में असमानताएँ हैं।

लेखन कला सभ्य समाज का विशेषक है। हड़प्पा संस्कृति के नागरीकरण के फलस्वरूप ही इसका आविर्भाव हुआ। अन्य स्थलों के समान ही, कालीबंगन में भी हड़प्पा संस्कृति, कई नवीनताओं के साथ प्रकट हुई। ऐसा प्रतीत नहीं होता कि यहाँ पर इसका विकास धीरे-धीरे प्राग्हड़प्पा संस्कृति से हुआ हो।

अब तक प्राप्त संक्षिप्त प्रकाशनों के आधार पर यहाँ के ताम्र-कांस्य उद्योगों का विस्तृत विवरण नहीं दिया जा सकता।

(ग) सौराष्ट्र

(i) लोथल

सौराष्ट्र प्रायद्वीप के इस सैंधव संस्कृति के शहर का उत्खनन राव ने किया। यह स्थल एक दलदली निचली भूमि में, जो मूलतः भोगावो और साबरमती नदियों का संगम स्थल रहा होगा, स्थित है। नदियों के मुहाने के सान्निध्य के कारण इसकी बरबादी होती रही और अंततोगत्वा नदियों ने ही इसका संपूर्ण अंत कर दिया। संकालिया के मतानुसार लोथल अपने स्वर्णकाल में समुद्र के बहुत निकट बसा था। इसके काल I से प्रौढ़ हड़प्पा व काल II से उत्तर हड़प्पा संस्कृति के अवशेष मिलते हैं। काला और लाल भांड-काल I से ही मिलता है।

शहर छह खंडों में विभाजित था। प्रत्येक खंड कच्ची ईंटों के एक विस्तृत चबूतरे पर बना था जो कि एक दूसरे से 12′ से 20′ चौड़े मार्ग से जुड़े हुए थे। कुछ मकानों में बरामदे थे तो कुछ में केवल प्रांगण। एक विशाल भवन में विस्तृत जल-निकास की व्यवस्था थी, व इसकी अलग से दीवार थी। यहां पर एक बहुत बड़ी पक्की ईंटों की इमारत के अवशेष मिले हैं, जिसका आयाम है : 710′ × 124′ ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक नौका घाट रहा होगा। पकी मिट्टी के केक, गेंद और जली मिट्टी के साथ, 4′ × 4′ आकार की कुछ संरचनाएँ मिली हैं। कभी-कभी इनके साथ एक बड़ा चित्रित मर्तबान (जार) भी रखा होता था। ये सब उनके धार्मिक कृत्यों का आभास देते हैं। दोनों ओर धुएँ की कालिख से पुती एक चम्मच का मिलना इस सिलसिले में महत्वपूर्ण प्रमाण है। एक कच्ची ईंटों की इमारत के अवशेष मिले हैं, जिसमें 12 खंड हैं और प्रत्येक खंड 12′ वर्ग का है, 3½′ चौड़ी वायु-नलियों द्वारा विभाजित हैं। व्हीलर के विचार से संभवतः ये चबूतरे (मोहनजोदड़ो की तरह) अन्नागार के आधार थे। अन्नागार लकड़ी का होने के कारण शायद जल गया था। मुड़ी हुई और जली हुई मिट्टी की मोहरें, रखे हुए गट्ठरों से टूट कर नीचे नालियों में गिर गयी थीं।

राव को लोथल की सतही सामग्री से एक सेलखड़ी की मोहर मिली है, जिसका पृष्ठ भाग उभरा हुआ है और अग्र भाग में एक युगल कलपुच्छ (Gazelle) अंकित है। इसकी तुलना कुवैत के निकट फेलका, बारबारा और रास-अलकला की मोहरों से की जा सकती है, जो कि "फारस की खाड़ी की मोहरों" नाम से प्रसिद्ध हैं। ये मोहरें गोल हैं और इस तरह मोहनजोदड़ो की चौकोर और मेसोपोटामिया की बेलनाकार मोहरों से भिन्न हैं। इसी प्रकार की 17 मोहरें मेसोपोटामिया से मिली हैं। उनमें से बहुतों में सिंधु लिपि भी अंकित है। स्पष्टतः ये मोहरें सिंधु सभ्यता के इस क्षेत्र व मेसोपोटामिया के बीच व्यापार करने वाले बहरीन के व्यापारियों के हाथ यहां पहुँचीं।

सिंधु सभ्यता और मेसोपोटामिया के संपर्क के विषय में हम आगे अध्याय 4 में लिखेंगे। मध्य एशिया में तुर्कमानिया के हाल के उत्खनन से प्राप्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि नमाज्गे काल V व VI का संपर्क हड़प्पा से था। अल्टीन डेपे के उत्खनन से प्राप्त मृद्भांडों के आकार, मनके, धातु उपकरण, चर्ट फलक, मृण्मूर्तियां और मोहरों में अंकित पशु-चित्र भी, हड़प्पा से सादृश्य दर्शाते हैं। अधिकांशतः यह संबंध लगभग 2000 ई० पूर्व रहा होगा। उपर्युक्त प्रमाणों से

स्पष्ट होता है कि हड़प्पा का पश्चिमी व मध्य एशिया के शहरों से स्थल मार्गों द्वारा भी संबंध था।

180°, 90°, 45° कोणों को नापने के लिए एक सीप का उपकरण प्राप्त हुआ है। 1·7 मि० मी० के भागों में विभाजित हाथी दाँत का पैमाना और साहुल गोलक (Plumb bobs) भी मिले हैं। ताम्र कांस्य उपकरणों में एक दर्पण, सुई, मत्स्य कांटा, छेनी, बरमा, उत्कृष्ट आरी के टुकड़े आदि मिले हैं। छकड़ा गाड़ी, नाव व घोड़ों के प्रयोग के प्रमाण मृण्मूर्तियों में बने उनके प्रतिरूपों से मिलते हैं।

(ii) सुरकोटडा

सुरकोटडा जिला कच्छ में स्थित एक स्थल है। यहाँ पर एक बहुत बड़ा टीला था जिसका जगतपति जोशी ने उत्खनन किया है। इसमें प्रकाल I का एक दुर्ग बना मिला जिसका परकोटा कच्ची ईंटों और मिट्टी के लौंदों का बना था। परकोटे के बाहर से एक अनगढ़ पत्थरों की दीवार थी। इस प्रकाल के मुख्य मृद्‌भाण्ड सैंधव प्रकार के हैं। इसके अतिरिक्त कुछ बहुरंगी, दूधिये स्लिप वाले मृद्‌भाण्ड भी मिलते हैं। शवाधान अस्थि-कलश प्रकार के थे। एक कब्र बड़ी चट्टान से ढकी मिली है। यह कब्र सैंधव संस्कृति में अभूतपूर्व है। प्रकाल IB में सैंधव मृद्‌भांडों का प्रचलन चलता रहा, पर एक प्रकार का नया लाल भांड संभवतः नये तत्वों के आगमन का सूचक है। इस प्रकाल IB का अंत एक सर्वव्यापी अग्निकांड से होता है। सैंधव तत्व I C में भी निरंतरता बनाये रखते हैं, परंतु इस प्रकाल में विशेष भांड काले-लाल प्रकार के हैं। नुकीले पेंदे वाले सैंधव कुल्हड़ भी अधिक मिलने लगते हैं। इस स्थल से घोड़े की हड्डियों का मिलना महत्वपूर्ण है।

उपर्युक्त संक्षिप्त सर्वेक्षण के पश्चात् हम अब संबंधित प्रश्नों व समस्याओं का विश्लेषण करेंगे।

(ब) समस्याएँ और विवेचना

डेल्स ने उत्तर-पश्चिम भारतवर्ष से प्राप्त संचय सामग्री को विभिन्न वर्गों (A से F) में बाँटा है। इन अपर्याप्त प्रमाणों के आधार पर कोई स्पष्ट चित्र नहीं उभरता। लेकिन इस युग में सारे क्षेत्र को (मुंडीगाक, कोटदीजी आदि) ग्राम जीवन से नागरीकरण की ओर विकसित होते हुए देखते हैं। मुंडीगाक काल I V से दुर्ग व मंदिर के अवशेष मिलते हैं। मृद्‌भांडों (मुंडीगाक IV

और दंबसदात काल II) पर कुम्हार के विशिष्ट अंकित चिह्न लेखन शैली के प्रारंभ का आभास देते हैं। अचानक ही क्वेटा संस्कृति के स्थलों, नाल के उत्तर-कब्रगाह स्तर, आम्री के मध्यवर्ती काल, कोटदीजी के प्राग्हड़प्पा स्तर आदि से प्राप्त मृद्भांडों पर कुबड़े सांड का बहुल चित्रण उनके कृषि, यातायात व आर्थिक जीवन में पशु-शक्ति के महत्व के आभास को दर्शाता है। अफगानिस्तान से सिंध तक बहुरंगी मृद्भांडों की परम्परा (डेल्स का D काल) का स्थान लाल-पर-काले भांडों की परंपरा ने ले लिया। ताम्र की मोहरें, धातु के आपेक्षिक अधिक चलन को इंगित करती है। इसी काल में दक्षिणी बलूचिस्तान, फारस की खाड़ी पर स्थित उम्मन नार आदि स्थल और मेसोपोटामिया के बहुत से स्थलों से उत्कीर्ण प्रस्तर धूसर भांड के पात्र मिलते हैं। यह तथ्य इन स्थलों के बढ़ते हुए आपसी संपर्क व व्यापार के सूचक हैं। इन सब प्रमाणों से लगता है कि इस काल में यह सारा क्षेत्र नागरीकरण के प्रवेश द्वार पर खड़ा था।

उपर्युक्त सर्वेक्षण से स्पष्ट है कि उच्च प्रदेश के वासी बहुरंगी परंपरा के साथ पशु-पालन व कृषि-कर्म करते हुए भी काफी हद तक यायावार जीवन व्यतीत करते थे। जबकि गिरिपाद व सिंधु के मैदानी क्षेत्र में (आम्री) आये हुए लोग द्विरंगी परंपरा के साथ स्थायी कृषि जीवन व्यतीत करने लगे थे और नागरीकरण की प्रक्रिया में अपना योगदान देने लगे थे। स्पष्ट है कि पारिस्थितिकी नयी चुनौतियों के साथ नागरीकरण के द्वार खोलने में सहायता दे रही थी (देखें अध्याय 2)। घोष के मतानुसार "सोथी मृद्भांडों की तुलना कुछ मानों में न केवल कोब (पेरियानो घुंडई) भांडों से बल्कि क्वेटा, केन्द्रीय बलूचिस्तान और हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो के प्रारंभिक स्तरों से तथा सरस्वती के लगभग सभी हड़प्पा स्थलों के मृद्भांडों से की जा सकती है। वे न केवल हड़प्पा संस्कृति के सरस्वती क्षेत्र में बल्कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के भांडों में भी विशिष्टताएँ निरंतर पाते हैं। कालीबंगन और संभवतः कोटदीजी में भी हड़प्पा तथा सोथी लोगों का सह-अस्तित्व केवल आकस्मिक कह कर नहीं टाला जा सकता। प्रत्युत, सोथी का हड़प्पा संस्कृति के उद्भव में योगदान रहा होगा। स्पष्ट है कि अन्य प्रारंभिक संस्कृतियों की अपेक्षा हड़प्पा के उद्भव में सोथी संस्कृति एक दृढ़ आधार रही होगी। इसीलिए सोथी को आदि हड़प्पा सैंधव कहना उचित ही होगा।" कालीबंगन के सैंधव अवशेषों का वर्णन करते हुए हमने उन विशिष्टताओं का विवरण दिया था जिनका उद्भव प्राग्हड़प्पा संस्कृति से हुआ था।

इसके विपरीत डेल्स का मत है कि यद्यपि सैंधव (हड़प्पा) कहे जाने वाले तत्व अफगानिस्तान से लेकर सिंधु तक के स्थलों में मिलते हैं फिर भी आम्री और कोटदीजी के उत्खनन से प्रतीत होता है कि वहाँ प्रौढ़ हड़प्पा संस्कृति बहुत पहले बसी पूर्व-हड़प्पा बस्तियों पर थोपी गयी थी। खान के कथनानुसार मुश्किल से ही मृद्भांडों का कोई आकार या डिजाइन हड़प्पा और कोटदीजी में एक सा होगा। इसीलिए घोष ने प्रश्न किया है कि प्रौढ़ हड़प्पा कौन सी संस्कृति थी और उसे प्रौढ़ता कहाँ से मिली ?

ग्रामों के नागरीकरण की प्रक्रिया में होने वाले दूरगामी परिवर्तनों के आधार पर सिन्हा ने हड़प्पा संस्कृति के आकस्मिक आविष्कारों व नवीनताओं की उत्पत्ति की व्याख्या की है। मृद्भांड शैलियों में परिवर्तन, धातु-कर्म की अत्यधिक वृद्धि, वास्तु कला के नये मान और नयी सामग्री का उपयोग, कला तथा शिल्प में विविधता अपेक्षित कर रहा होगा। साथ ही कला और शिल्प का मानकीकरण (Standardization) भी सैंधव नागरिक जीवन का नैसर्गिक अंग था।

सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से इस काल की वस्तुस्थिति का सिंहावलोकन करने पर प्रतीत होता है कि धातु कर्म के विकास, कृषि-सुधार, पशु-पालन व वायु शक्ति के उपयोग से सुख संपन्नता में वृद्धि हुई होगी। दूसरी ओर, इससे सांस्कृतिक समरूपता भी आयी। फलस्वरूप अफगानिस्तान से सिंधु तक का सारा क्षेत्र नागरीकरण की दहलीज पर आ खड़ा हुआ। लेकिन नागरीकरण केवल सिंधु में ही क्यों हुआ ? इसका विवेचन बाद में करेंगे।

उपर्युक्त सर्वेक्षण से निम्नलिखित समस्याएँ उभरती हैं—

(1) हड़प्पा संस्कृति में ताम्र की क्या भूमिका रही ?

(2) प्राग्हड़प्पा की तुलना में हड़प्पा काल में ताम्र का बाहुल्य कितना था ?

(3) धातु की अधिकता का क्या कारण था ?

(4) पारिस्थितिकीय कारणों का क्या योगदान था ? शहरों का उद्भव पहाड़ों की अपेक्षा मैदानी क्षेत्र में क्यों हुआ ?

(5) चर्ट उपकरणों का सैंधव अर्थव्यवस्था में क्या महत्व था ?

(6) हम कैसे हड़प्पा की एकरस संस्कृति के विपरीत पाक-ईरानी सीमा प्रदेश की विविध संस्कृतियों की व्याख्या कर सकते हैं ?

(7) उत्तर-पश्चिम की अनेकों संस्कृतियों के कालानुक्रम में आपेक्षिक स्थिति क्या है ? इस क्षेत्र में धातु-विज्ञान तथा अन्य नवीन विशिष्टताओं के प्रसार की दिशा क्या है ?

अगले अध्यायों में हम उपर्युक्त समस्याओं का हल ढूंढने के लिए विभिन्न प्रमाणों का संश्लिष्ट विश्लेषण करेंगे ।

III अन्य ताम्राश्मीय संस्कृतियाँ

इन अन्य ताम्राश्मीय संस्कृतियों के विषय में प्रकाशित केवल संक्षिप्त विवरणों के कारण तुलनात्मक अध्ययन में कठिनाइयां उपस्थित होती हैं । ये कठिनाइयां मुख्यतः धातु तथा अन्य शिल्पों के विवरण प्राप्त करने में आती हैं । अतः पुरातात्त्विक प्रमाण प्राप्त करने में जहाँ तक संभव हुआ है हमने व्यक्तिगत संपर्कों से भी काम लिया । मुख्य ताम्राश्मीय संस्कृतियां मानचित्र (आरेख 7) में दिखायी गयी हैं ।

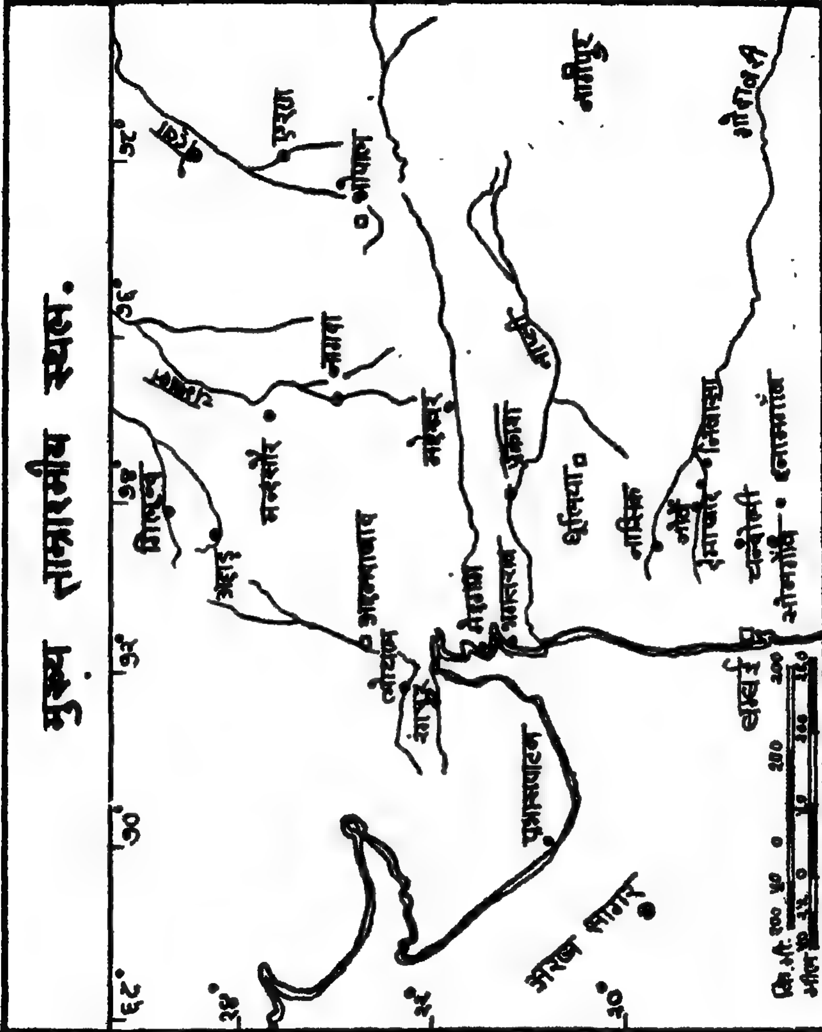
क. दक्षिणी राजस्थान

राजस्थान का दक्षिणी-पूर्वी भाग रेगिस्तान होते हुए भी उपजाऊ है तथा अरावली पहाड़ियों द्वारा संरक्षित है । भूतकाल में इस क्षेत्र में संभवतः अनेक जलवायु परिवर्तन हुए (देखें अध्याय 2) । अधिकांश काले-लाल मृद्भांड स्थल बनास व इसकी सहायक नदियों की घाटियों में केन्द्रित हैं ।

अहाड़ और गिलूंद

उदयपुर के पास, बनास नदी के किनारे अहाड़ और गिलूंद स्थलों से एक ताम्राश्मीय संस्कृति के प्रचुर प्रमाण मिले हैं, जो बनास संस्कृति के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

अहाड़ में पत्थरों की नींव पर बने पत्थर और मिट्टी के मकान मिले । मकानों की मिट्टी की पुताई स्फटिक पिंडों से अलंकृत की गयी है । 30′ × 15′ आकार के कुछ बड़े मकान भी मिले । गिलूंद में बड़ी इमारतों के अवशेष अधिक मिले हैं । पत्थरों की नींव पर भट्टे में पकायी गयी ईंटों की एक 36′ की खुली दीवार व एक 100′ × 30′ की एक विशाल संरचना मिली है जो एक पहेली बनी हुई है । सैंधव संस्कृति के अतिरिक्त (14″ × 6″ × 5″ आकार की) पक्की ईंटों का प्रयोग वास्तव में पुरातात्त्विक दृष्टि से महत्वपूर्ण है । कुछ चूल्हे



आरेख 7

काफी बड़े हैं। एक मकान में तो एक कतार में छह चूल्हे थे। ताम्र शिल्प उपकरणों में चार चपटी कुल्हाड़ियां, चूड़ियां, आदि मिली हैं।

अहाड़ काल IA में पांडु और दूधिया स्लिप के भांड प्रचलित थे। काल IB में प्रस्तर भांड (Stone ware) के साथ सपीठ तश्तरियां और साधारण

थालियां भी प्रचलित रहीं। काल IC के काला और काले-लाल कटोरों के स्कंधों में किनारे बने थे। प्रस्तर पात्र विलुप्त हो गये। चित्रित काले-लाल भांड विशेष बर्तनों में शुमार थे। लाल भांड के संचयन पात्र का निचला भाग अनगढ़ ही है। चित्रित काले, सादे, चमकीले, धूसर, लाल और कुछ बहुरंगी मृद्भांडों के ठीकरे भी उपलब्ध हुए हैं। दूधिये पर-काला और काले-लाल भांड, गिलूंद के ऊपरी तथा निचली सतहों से भी मिले हैं। नवदाटोली के सबसे निचले स्तरों से मिलने वाले दूधिया स्लिप भांड पर नाचते हुए मानव चित्र वाले बरतन गिलूंद की ऊपरी सतह से ही मिलने लगते हैं। संकालिया के विचार से प्रस्तर पात्र की परंपरा यहां पश्चिम से आयी। यह समझा जाता है कि पतले पांडु और दूधिया स्लिप वाले, किरमिजी काले रंग से चित्रित मृद्भांड भी बाहर से आयात हुए। आम्री और नाल में भी ऐसे भांड मिलते हैं।

संकालिया ने अहाड़ के तर्कुचक्कर या पकी मिट्टी के मनकों का सादृश्य ट्राय के नमूनों से किया है। उनके अनुसार, अहाड़ के अलावा अन्य किसी भी ताम्राश्मीय संस्कृति या प्राचीन ऐतिहासिक स्थलों से उत्कीर्ण तर्कुचक्कर (चांहुदड़ो के अपरिष्कृत नमूनों के अलावा) उपलब्ध नहीं हुए हैं। आकार की दृष्टि से सादृश्य न होते हुए भी, नागदा काल I के पकी मिट्टी के उत्कीर्ण मनके और तर्कुचक्कर समान प्रतीत होते हैं। संकालिया के मतानुसार लंबे सींग वाले सांड और विविध प्रकार की गोटों (एक का सिरा मेढे का है) में सैंधव परंपरा का आभास होता है।

अग्रवाल और लाल दोनों ने ही लगभग नगण्य लघु-अश्मों का वर्णन किया है। लघु-अश्मों की अनुपस्थिति के कारण ही संकालिया बनास संस्कृति को केवल ताम्र-संस्कृति की संज्ञा देते हैं। इसी कारण बनास संस्कृति अन्य ताम्राश्मीय संस्कृतियों से भिन्न है।

चित्तौड़गढ़, उदयपुर और मंदसौर जिलों में काले-लाल मृद्भांडों के अनेक स्थल मिले हैं।

ख. सौराष्ट्र

(i) रंगपुर

रंगपुर, लोथल से 30 मील दक्षिण-पश्चिम में, भादर नदी की घाटी में पहाड़ों से लगे मैदानी क्षेत्र में स्थित है। भादर नदी के कारण यह क्षेत्र काफी उपजाऊ है। इस स्थल का समीपवर्ती समुद्री तट कटा-फटा होने के कारण यह

क्षेत्र समुद्री व्यापार के लिए बहुत उपयुक्त था। रंगपुर के उत्खनक ने इसके काल I का समय 3000 ई० पू० निश्चित किया। इस काल में यहां केवल लघु अश्मों का ही प्रचलन था। मृद्भांड के प्रयोग का कोई प्रमाण नहीं मिला। काल II के A, B, C प्रकाल हैं। काल II हड़प्पा संस्कृति का है। इस काल में कुल्हड़ और बीकर कम प्रचलित थे। अभ्रकी काले-पर-लाल हत्थेदार कटोरे, पांडु-पर-चाकलेटी, अनगढ़ धूसर भांड आदि नये तत्व भी देखने को मिलते हैं।

रंगपुर के पांडु भांड भाग्रो के पांडु भांडों की तरह पतले और उत्कृष्ट नहीं हैं। चूनेदार मिट्टी (Calcarious Clay) लोह युक्त मिट्टी के विपरीत आक्सीकरण से लाल नहीं होती। इसके प्रयोग के कारण रंगपुर के मृद्भांड पांडु हैं। मजूमदार के मतानुसार बनास के दूधिया स्लिप वाले भांड केओलिन (Kaolin) के प्रयोग के कारण ऐसे हैं। उनके रासायनिक विश्लेषणों द्वारा ज्ञात हुआ है कि बनास और रंगपुर भांडों में समानताएँ हैं। प्रकाल IIB में, बाढ़ के कारण संभवतः लोग यहां से कूच कर गये। नतोदर-कटोरों में परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। बीकर व कुल्हड़ विलुप्त हो गये व छोटे मर्तबान व चिलमिची का प्रचलन कम हो गया। अब सीधे किनारे वाले कटोरे प्रयोग में आने लगे। अपरिष्कृत संरचना, अलंकरण की न्यूनता, प्रस्तर तौल भार और चर्ट फलक आदि के अभाव से ह्रास के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकाल में कोई भी कच्ची ईंटों का मकान, नाली और स्नानागार नहीं मिले। काल IIC पुनरुत्थान का प्रकाल है। इस प्रकाल में चमकीले लाल भांडों (Lustrous Red Ware) का प्रादुर्भाव हुआ और भांड चित्रण का बहुत प्रयोग व काले-लाल मृद्भांडों का प्रचलन बढ़ गया। बड़े मकान बनने लगे। मृत्पिंड (Terra-Cotta Cake) और जालीदार मर्तबान विलुप्त हो गये।

राव ने चमकीले लाल मृद्भांडों को, सैंधव मृद्भांड परंपरा का ही विकसित रूप सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। राव के अनुसार अनगढ़ लाल-भांडों की बहुलता का कारण बारीक जलोढ़ मिट्टी का अभाव ही था। फलस्वरूप कुछ भांडों में अतिरिक्त अलंकरण किया गया है। लेकिन दूसरे स्थलों से प्राप्त चमकीले मृद्भांड के विषय में उपर्युक्त तर्क लागू नहीं होता च० ला० भांड (L. R. Ware) एक तकनीकी आविष्कार है। गीले भांडों पर गेरू रगड़ कर, उन्हें बाद में आग में पकाने के पश्चात् चित्रित किया जाता था। प्रकाल IIA और IIB की तुलना में प्रकाल IIC और III में रेखांकित (Graffitti) ठीकरों की वृद्धि महत्वपूर्ण है। राव के उत्खनन की रिपोर्ट से इस रेखांकन का

काल स्पष्ट नहीं होता। लगभग 50 प्रतिशत रेखांकन सैंधव प्रकारों से पूर्णतः असमान है तथा शेष 50 प्रतिशत का सिंधु लिपि से कोई निकट का संबंध नहीं नजर आता। वास्तव में सूर्य प्रतीक (राव के प्रतीक नं० 59, 60) तंबू (प्र० नं० 96) और घुड़सवार का (प्र० नं० 97) चित्रण संभवतः नये लोगों के आगमन का आभास देता है। काल III में च० ला० भांड मुख्य भांड उद्योग के रूप में प्रकट हुए। अब नैसर्गिक की अपेक्षा ज्यामितिक डिजाइनों को अधिक महत्व दिया जाने लगा। भांडों के आकार में भी परिवर्तन आ गया। काले-लाल भांड अधिक प्रचलित हो गये। इस काल में कांचली मिट्टी और सेलखड़ी के मनके लुप्त हो गये। उनके स्थान पर पकी मिट्टी के मनके प्रचलित होने लगे। इनके अतिरिक्त सांड, अयालदार घोड़े आदि की मृण्मूर्तियां इस काल की अन्य महत्वपूर्ण उपलब्धियां हैं।

विभिन्न प्रकालों से कुल 18 ताम्र उपकरण मिले हैं जिनका विवरण इस प्रकार है—प्रकाल IIA से 7, प्रकाल IIB से 1, प्रकाल IIC से 9 काल, III से 1 टीन मिश्रण का ज्ञान होते हुए भी उनका धातु शिल्प विकसित नहीं था। (देखें अध्याय 6), अमरेली जिले में रूपवती के स्थानीय अयस्कों के इस काल में प्रयोग की क्या संभावनाएँ थीं, इसका विश्लेषण अध्याय 6 में करेंगे।

संभवतः क्रेस्टेड गाइडेड रिज (Crested guided ridge) तकनीक ज्ञात थी। लेकिन चर्ट अप्राप्य होने के कारण लंबे फलक नहीं बन सकते थे। करकेतन भी दुर्लभ है। रंगपुर और देवालिया में यशब (Jasper), बादली पत्थर (Agate) के छोटे कंकड़ ही प्राप्य थे। इसलिए इनसे शल्क ही बन सकते थे, फलक नहीं। नये ताम्र भंडारों की प्राप्ति के कारण (देखें अध्याय 6) भी प्रस्तर फलकों की न्यूनता संभव थी।

रंगपुर, देसालपुर, प्रभास, सोमनाथ आदि स्थलों में हड़प्पा संस्कृति का अनुक्रमण स्पष्ट दीखता है। दुर्भाग्यवश इन स्थलों का रेडियो कार्बन पद्धति द्वारा काल निर्धारण अब तक नहीं हो सका। संपूर्ण सौराष्ट्र हड़प्पा संस्कृति का उत्तरकालीन रूपांतरण दर्शाता है। अतः इस संक्रमण काल का तिथि-निर्धारण होना बहुत महत्वपूर्ण है। हाल में जगतपति जोशी ने सुरकोटडा की खुदाई से इन समस्याओं पर विशेष प्रकाश डाला है।

(ii) प्रभास पाटन

सोमनाथ के निकट सौराठ जिले में प्रभास पाटन के उत्खनन से छह कालों का अनुक्रम मिला। इसके प्रथम काल से उत्तर हड़प्पा कालीन मृद्भांड, लघु

अश्म, खंडित काचली मिट्टी के मनके आदि मिले। च० ला० भांड, लाल-पर-काला भांड पर नये परिष्कृत डिजाइन और मृग-चित्रित ठीकरे प्रकाल II A की विशिष्टताएँ हैं। इस काल का एक अनगढ़ पत्थरों का फर्श भी मिला है। प्रकाल II B में च० ला० भांड का आविर्भाव हुआ। काल III में काले-लाल मृद्भांडों के साथ लोहे का प्रचलन भी शुरू हो गया।

(iii) सोमनाथ

प्रभास पाटन से 2 मील दूर सोमनाथ के काल I के रंगपुर काल II के च० ला० भांड के साथ किनारेदार कटोरे और अनगढ़ धूसर भांड मिले। सपीठ थालियाँ इस काल में अति लोकप्रिय थीं। काले-लाल भांडों का चलन बहुत कम था। दस हजार छोटे सेलखड़ी के मनके, एक ताम्र कुल्हाड़ी, शल्क, फलक और क्रोड इस काल की अन्य प्राप्तियाँ थीं। काल II में च० ला० भांड काफी प्रचलित हो गये, परंतु ये अच्छी तरह अलंकृत नहीं थे। काले-लाल भांड इस काल में पूर्ववत् प्रचलित रहे। काल III में प्रधानतः बढ़िया घिसाई किये काले-लाल भांड विविध प्रकार के कटोरे व तश्तरियाँ प्रचलित हुईं। लालभांड की स्थिति पूर्ववत रही।

(iv) आमरा

जिला हलार में आमरा के काल I से हड़प्पा भांड के साथ काले-लाल भांड भी मिले। काल I व II के नमूने लखाभावल के सदृश्य हैं। लखाभावल के काल I का रंगपुर काल I से तादात्म्य है। पांडु स्लिप वाले धूसर ठीकरे दोनों स्थलों में मिलते हैं। लाल पालिश वाले भांड प्रचुर मात्रा में, अनगढ़ काले लाल भांड, तथा जरदोजी काम की एक सोने की बाली इस काल की विशेषताएँ हैं।

(v) देसलपुर

जिला कच्छ में देसलपुर के उत्खनन से दो संस्कृतियों का पता चला। काल I A हड़प्पा संस्कृति का है। यह उल्लेखनीय है कि किले की दीवार की चिनाई पत्थरों से की गयी थी जिस पर बुर्ज बने थे। किले की दीवार के दूसरी ओर मकान बनाये गये। कच्ची ईंटों का आकार 50 × 25 × 12.5 से० मी० है। नीले-हरे आभा वाले रंग से चित्रित एक पतला धूसर मृद्भांड मोहनजोदड़ो के कांचित भांड (glazed ware) से मिलता है। प्रकाल IB

में दुधिया स्लिप वाले द्विरंगी मृद्भांड के मुख्य पात्र कटोरे व तश्तरियाँ थीं। काले, बैंगनी या लाल या भूरे रंगों से पात्रों को चित्रित किया गया था। सादे व धूसर रंग से चित्रित काले-लाल भांडों का प्रचलन इस प्रकाल की नवीनताएँ हैं। इस प्रकाल में च० ला० भांड बिलकुल नहीं मिलते। ताम्र के चाकू, छेनी, छड़ और छल्लों के अतिरिक्त चर्ट के पतले लम्बे फलकों का प्रयोग भी होता था। काल II में दुर्ग की दीवारों से चुराये गये पत्थरों से मकान बनाये गये थे। काले रंग से चित्रित लाल और दूधिया स्लिप वाले भांड इस काल में लोकप्रिय हो गये थे।

ग. मध्यभारत और महाराष्ट्र

महाराष्ट्र का अधिकांश भाग काली कपासी मिट्टी (Black cotton soil) से ढका है। बीच-बीच में पर्णपाती और मिश्र—पर्णपाती मानसूनी वनों के कटक हैं। दक्षिणी पठार के शुष्क पर्णपाती वन व डोलेराईट डाइक ग्रेनाइट व बेसाल्ट को पहाड़ियों की पारिस्थितिकी ताम्राश्मीय कालीन मानव को कृषि तथा पशु पालन के लिए उपयुक्त थी। नर्मदा की घाटी भी ताप्ती और गोदावरी की तरह है। मध्य भारत व दक्षिणी पठार की अधिकतर नदियों की संकीर्ण घाटियाँ एक दूसरे से पर्वतों और पठारों से विभाजित हैं। ऐसी पारिस्थितिकी अधिक कृषि उत्पादन व मानव-सम्पर्कों दोनों ही के अनुकूल नहीं है। चंबल की घाटी में तो इतनी थोड़ी जलोढ़ मिट्टी है कि लगता है कि यहाँ की बस्तियों का मुख्य उद्योग पत्थरों के अस्त्रों के लिए कच्चा माल प्राप्त करना रहा होगा।

(i) एरण

सागर जिले में बेतवा नदी पर, विन्ध्याचल पर्वतमालाओं के उत्तर में, एक पठार पर एरण स्थित है। इसकी स्थिति ही शायद एरण की संस्कृति के विशिष्ट व्यक्तित्व के लिए उत्तरदायी है।

इस स्थल से संस्कृति के चार कालों का अनुक्रम मिला। काल I ताम्राश्मीय है, काल II से लोहा प्राप्त हुआ तथा अन्य दो काल परवर्ती हैं। सफेद रंग से चित्रित काले-लाल भांड, लाल-पर-काला भांड, एक चित्रित धूसर भांड (दोआब के चि० धू० भांड से भिन्न) काल I की विशिष्टताएँ हैं। मध्य काल से एक चमकदार गहरी लाल स्लिप वाले भांड (क्या यह च० ल० भांड है?) मिले, व अंतिम काल से टोंटीदार पात्र, परकोटा और खाई मिलती हैं। पत्थर को

कुल्हाड़ियां परकोटे की मिट्टी से व अंतिम काल के स्तरों से भी मिलती हैं। ताम्र के टुकड़े के अलावा अन्य उपकरणों का विवरण अभी तक अप्रकाशित है। काल II की विशिष्टताएं हैं काले-लाल भांड (जो आकार तथा बनावट में प्रथम काल से भिन्न हैं) और अल्प मात्रा में एन० बी० पी० व पंच-मार्क सिक्के।

(ii) नागदा

नागदा चंबल क्षेत्र में एक पठार के ऊपर स्थित है। यहां पर जलोढ़ मिट्टी के मैदान हैं ही नहीं। काल I के 22′ निक्षेप से लाल-पर-काला और दूधिये-पर-काला मृद्भांड मिले। यहां के डिजाइनों के समृद्ध भंडार का तादात्म्य मध्य भारत के परिरूपों से है। मृद्भांडों में कलपुंख, सूर्य प्रतीक, मृगशृंग आदि चित्रित हैं। मिट्टी व कच्ची ईंटों के बने मकान भी मिलते हैं। करकेतन, स्फटिक और तामड़ा पत्थर के फलक और क्रोड तथा पकी मिट्टी के मनके और उत्कीर्ण डिजाइन वाले तकुं-चक्कर (अहाड़ जैसे) भी मिले हैं। काल II में काले और दूधिये भांड के लुप्त होने के साथ ही काले-लाल मृद्भांडों का प्रादुर्भाव हुआ। इस काल में भी मिट्टी और कच्ची ईंटों की इमारतें पूर्ववर्ती बनायी गयीं। काल III में एन० बी० पी० प्रकट होती है। ताम्र उपकरण बहुत न्यून मात्रा में मिले।

नर्मदा नदी की संकीर्ण घाटी के अलावा सारा मालवा पठार चट्टानी है। बीच-बीच में रेगुर मिट्टी के छोटे-छोटे टुकड़े फैले हैं। दलदली क्षेत्रों में विविध प्रकार के जंगली धान पैदा होते हैं। नदियों के संकीर्ण उपजाऊ पट्टियों के कारण कृषक समुदाय अधिक नहीं पनप पाये (देखें अध्याय 2)।

(iii) कायथा

उज्जैन से 15 मील दूर कायथा एक अत्यंत विशिष्ट ताम्राश्मीय सांस्कृतिक स्थल है। मजबूत भांड लघु-अश्म काल II की विशेषता हैं। काल I से मध्याश्म युगीन हथियार प्राप्त हुए। एक पांडु-पर-गुलाबी लाल और एक चाकलेटी भांड भी प्राप्त हुआ जो कि काल II की विशिष्ट उपलब्धियां हैं। चाकलेटी भांड प्राग्हड़प्पा भांड की याद दिलाता है। इसी काल की दो उत्कृष्ट ढली हुई ताम्र कुल्हाड़ियां, छेनी और चूड़ियां भी मिली हैं। काल II के अवशेषों की सगोत्रता हड़प्पा से नहीं स्थापित की जा सकती। काल III में सफेद रंग से चित्रित काले-काले भांड प्रचलित थे। काल IV में मालवा भांड चित्रित काले-लाल-भांड आदि मिलते हैं। कायथा संस्कृति के (काल II के)

अभूतपूर्व स्वरूप व विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण ताम्राश्मीय संस्कृतियों का स्वतंत्र उद्भव बहुत संभव लगता है।

(iv) माहेश्वर और नवदाटोली

इन्दौर से 50 मील दक्षिण में नर्वदा तट पर स्थित माहेश्वर व नवदाटोली से ताम्राश्मीय संस्कृति के विस्तृत अवशेष मिले हैं। झोपड़े वर्गाकार या वृत्ताकार (3 से 8 फुट परिधि के) थे। काल I के कमरों का औसतन माप 10′×8′ था, तथा गांव में झोपड़ों की औसत संख्या 50 से 75 तक थी। एक 4′×4′ गर्त के चारों ओर खंबों के निशान बने हैं। गर्त के अंदर समकोण पर रखे दो लट्ठे, अंडाकार पेट और लहरियादार कंठ व आधार वाले दो पात्रों के अवशेष मिले। सफेद रंग से चित्रित लाल भांड केवल काल I में ही प्रचलित थे, जबकि सफेद स्लिप वाले भांड काल I और II में। काल III में टोंटीदार नली वाले और जोर्वे भांड प्रचलन में आये। लेकिन प्रमुख भांड मालवा भांड ही था जो कि पूरे ताम्राश्मीय कालों में प्रचलित रहा। टोंटीदार नलीवाले भांडों के समरूप आकार पश्चिमी एशिया से उपलब्ध हुए हैं। खुर्दी में इसी प्रकार का एक ताम्र का बना नमूना मिला है। प्रथम काल में मसूर, उड़द, चना, मटर और गेहूं, उगाये जाते थे। काल II से थोड़ी मात्रा में चावल का भी उपयोग होने लगा। मध्य भारत में ही नहीं, भारतवर्ष के अन्य भागों में भी जंगली चावल (Oryza sativa) पैदा होता है। सूअर, भेड़, बकरी और हिरन के अवशेषों से ज्ञात होता है कि लोग मांस भक्षण भी करते थे। समानान्तर किनारों वाले छोटे या लघु फलकों का प्रयोग बड़ी संख्या में किया जाता था। दांतेदार फलक भी मिले हैं। चंद्राकार लघ्वश्म जो बाणाग्रों की तरह प्रयुक्त होते थे, बहुत कम मिले हैं। इनके अतिरिक्त तांबे के चपटे कुल्हाड़े, मत्स्य कांटे, रीढ़दार फलक आदि का भी प्रयोग किया जाता था। बादली पत्थर, तामड़ पत्थर और कांचली मिट्टी के मनके मिले हैं। ताम्र व मिट्टी की चूड़ियां और छल्ले भी प्रचलित थे।

(v) प्रकाश

प्रकाश दक्षिणी ट्रैप प्रदेश पर स्थित था। जहां भंगुर गुलाबी स्फोटगर्ती चट्टानें तथा गैर-स्फोटगर्ती ट्रैप की पट्टियां पायी जाती हैं। गोमाई व ताप्ती के संगम पर स्थित प्रकाश लघ्वश्म उद्योग के लिए प्रसिद्ध है। यहां बादली पत्थर, करकेतन तथा चर्ट पिंड बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। भौगोलिक दृष्टि से मध्य

तथा दक्षिणी भारत के बीच स्थित होने के कारण, दोनों क्षेत्रों के सांस्कृतिक तत्वों का समावेश यहां मिलता है। ताप्ती घाटी की खोज से अनेक ताम्राश्मीय संस्कृतियां प्रकाश में आयी हैं।

प्रकाश के उत्खनन से चतुर्कालिक अनुक्रम मिला है। प्रकाल IA से फलक लघ्वश्म, पत्थरों के हथौड़े, एक ताम्र दीपक, यशब के मनके, तामड़ा पत्थर, सेलखड़ी, पकी मिट्टी की छकड़ा गाड़ी के खिलौने आदि मिले हैं। प्रचलित मृद्भांड निम्नलिखित थे :—(i) सफेद डिजाइनों से चित्रित हल्के धूसर भांड; (ii) मालवा भांड; (iii) उत्कीर्ण एवं जमाए हुए अलंकरण युक्त भांड; (iv) अपरिष्कृत घिसाई किये हुए और सादे भांड, जिनका संबंध काले-लाल भांडों से स्थापित किया जाता है। काल IB में जोर्वे और च० ला० भांडों का प्रादुर्भाव हुआ। इस काल में समानान्तर पक्षों वाले फलक अधिक प्रचलित थे। जबकि समलंब लघ्वश्म उपलब्ध नहीं हुए। किसी भी इमारत के अवशेष नहीं मिले। काल I से केवल एक ताम्र दीपक की प्राप्ति, धातु की न्यूनता का द्योतक है। लोहा, काले-लाल भांड, एन० बी० पी० भांड तथा ताम्र के 21 उपकरण काल II की विशेषताएँ हैं।

(vi) बाहल

गिरना नदी पर स्थित बाहल के काल I से ब्रह्मगिरी प्रकार का मोटा धूसर भांड मिला। गेरुए रंग से चित्रित कुछ गहरे धूसर ठीकरे भी मिले। प्रकाल IB में चाकनिर्मित उत्कृष्ट लाल के साथ च" ला" भांडों का प्रादुर्भाव हुआ। इस काल के ऊपरी सतहों से जोर्वे भांड भी मिले हैं। इनके साथ समानान्तर पक्षों वाले फलक, समलंब और चंद्राकार फलक, सेलखड़ी के मनके, सीप और मिट्टी तथा एक ताम्र दीपक भी मिले। लोहा और चमकीले काले-लाल भांड काल II की विशेषताएँ हैं।

(vii) टेकवाड़ा

देशपांडे के मतानुसार गिरना नदी के पार से प्राप्त चार शवाधान काल IB के हैं। कटोरों से ढके कुछ बड़े कलशों में कुछ हड्डियाँ और कुछ रेखांकन वाले काले-लाल भांड के कटोरे मिले। उनकी सगोत्रता रंगपुर रेखांकन नं० 21 और 32 से है। एक मर्तबान में तामड़ा पत्थर और सेलखड़ी के कुछ मनके भी मिले हैं।

एक गर्त शवाधान में उत्तर-दक्षिण दिशा में रखा एक प्रौढ़ पुरुष का 5′-2″ का अस्थि-पंजर मिला। इसके पैरों के पास एक उत्कृष्ट धूसर भांड व दूसरा चित्रित काला-लाल भांड रखा था। साथ में लाल स्लिप वाला-गोल कलश रखा मिला जिस पर काली-वक्र रेखाओं से एक शंख प्रतिरूप मुड़े हुए फंदों के सिरे पर छह तिरछी रेखाएँ चित्रित हैं। इनसे इनकी बाहुल की ताम्र संस्कृति के काल की समकालीनता सिद्ध होती है।

(viii) दैमाबाद

देशपांडे ने गोदावरी की एक सहायक नदी प्रवरा की घाटी पर स्थित दैमाबाद (जिला अहमदाबाद) का उत्खनन किया। गोदावरी की घाटी बहुत संकीर्ण है। इसके काल I में ब्रह्मगिरि काल I प्रकार का मोटा अनगढ़ भांड प्रचलित था। कटोरों के किनारे और ढक्कन प्रायः गेरुए रंग से चित्रित थे। उत्कीर्ण एवं जमाए अलंकरण की तकनीकों का प्रयोग किया जाता था। यह समझा जाता है कि दो बातों में चित्रित जंगली दृश्य वाला सतह से मिला एक पांडु कलश इसी काल का है। करकेतन के समानांतर पक्ष वाले फलक, मृण्मूर्ति और अल्प मूल्य रत्नों के मनके भी मिले हैं। काल II में सामान्य रचना और टोंटीदार नलीवाले लाल-पर-काले भांड प्रचलित थे जिन पर ज्यामितिक डिजाइन चित्रित है। लघु-अश्मों के अतिरिक्त ताम्र की एक सुई, टूटा हुआ चाकू व कुल्हाड़ी के भाग मिले हैं। एक कुत्ते व कूबड़दार सांड की मृण्मूर्तियां भी प्राप्त हुई हैं। काल III में टोंटीदार जोर्वे पात्रों का बाहुल्य है। धूसर भांड पूर्ववत् प्रचलित रहे। लघ्वश्म बड़ी संख्या में मिलते हैं। इनके अलावा पत्थरों की गदाएँ, मिट्टी के तर्कु चक्कर, दो मानवी तथा एक कुत्ते की मृण्मूर्तियां भी मिली हैं।

काल I में बस्तियों के बीच ही शवाधान मिले जिनका सिर उत्तर दिशा की ओर था। काल II में भी विस्तारित शवाधान उत्तर-दक्षिण दिशा में रखे थे। काल III से कुटी हुई मिट्टी के फर्श पर रखा हुआ एक अस्थि-पंजर मिला जिसका घुटनों से नीचे का भाग भंजित है। फर्श पर चौदह लंबों के निशान शवाधान के ऊपर शामियाने की संभावना का आभास देते हैं। बच्चे अस्थि-कलशों में दफनाये जाते थे।

(ix) निवासा

प्रवरा नदी पर स्थित निवासा और जोर्वे एक ही संस्कृति के स्थल हैं। भौगोलिक दृष्टि से दैमाबाद और निवासा समान हैं। वर्गाकार व गोलाकार

मकानों की दीवारें मिट्टी व लकड़ी की बनी थीं। घरों में संचयन कलश, चक्की व चूल्हे बने मिले हैं। धीमी चाल पर निर्मित एक हलके धूसर मृद्भांड के कटोरे, और विविध प्रकार के वर्तुलाकार कलश प्रचलित थे। बारीक कुटी हुई मिट्टी से बने जोर्वे भांड प्राप्त हुए जिनकी निष्प्रभ लाल सतह को काले रंग से चित्रित किया गया था। पात्रों में थालियां प्राप्त नहीं हुईं। यद्यपि अधिकांश अलंकरण ज्यामितिक हैं। तथापि एक कुत्ते और हिरन का रेखाचित्र भी बना मिला है। प्राप्त सन के रेशों व रुई से ज्ञात होता है कि लोग कपड़ा बनाना जानते थे। अल्प मूल्य रत्न, पकी मिट्टी, कांचली मिट्टी, सेलखड़ी, ताम्र और सोने के भी मनके मिले हैं। एक बच्चे के अस्थि-पंजर के गले में ताम्र के मनकों का हार पड़ा मिला। यद्यपि ताम्र प्रचुर मात्रा में नहीं मिलता, फिर भी ताम्र की चपटी कुल्हाड़ियां, एक पात्र और चूड़ियों के टुकड़े, मनके और छड़ी, मिली हैं। करकेतन फलक सामान्यतः प्रयुक्त होते थे। कठोर व भारी काम डोलेराईट के घिसे हुए कुल्हाड़ों से किया जाता था। सम्भवतः बड़ी संख्या में प्राप्त करकेतन के फलक और बाणाग्र, चपटे ताम्र कुल्हाड़े और ढंकवार गेंद (Sling ball) उस काल के हथियार रहे हों। प्राप्त अवशेषों से ज्ञात होता है कि बाजरा, भेड़, बकरी, भैंसे का मांस, घोंघे तथा सीप उनके आहार में शामिल थे। शव मकानों के अंदर व बाहर दफनाये जाते थे। बच्चों का शवाधान एक, दो व कभी-कभी तीन अस्थि-कलशों में किया जाता था। 14 साल से बड़ों के शवाधान एक या दो या कभी पांच कलशों तक में मिले हैं। अस्थि-पंजर अवशेष अच्छी प्रकार सुरक्षित नहीं रखे गये हैं। चौड़े चेहरे व चौड़ी, नाक, लम्बा सिर वाला एक अस्थि पंजर मिला है। एरहार्ड के विचार से अस्थि-पंजर की उद्गतहनुता (Prognathy) समीप की जंगली जातियों सी है।

(x) जोर्वे

जोर्वे के उत्खनन से भी ऐसी ही सामग्री मिली है। कुल्हाड़ी और ताम्र चूड़ियों का यहां विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है।

(xi) चंदोली

पूना जिले में घोड नदी पर स्थित चंदोली एक जोर्वे संस्कृति स्थल है। यहां पर चूने से पुते फर्श पर खम्भों के छेदों के निशान और चूल्हे पाये गये हैं। जोर्वे, मालवा और दूधिये स्लिप वाले तथा काले लाल-मृद्भांड भी प्रचलित थे। मालवा भांडों के आकार के पात्र (जैसे नवदाटोली में प्रचलित थे) तथा च० ला० भांड भी मिले हैं।

समानांतर पक्ष वाले चाकू फलक, समलंब चन्द्राकार, वर्गाकार लघु-अश्मों का उपयोग भी किया जाता था। इनके अतिरिक्त विशाल चक्कियाँ, निहाई और पत्थरों की गदाएँ और डोलेराईट का एक कुल्हाड़ा भी मिला है। मृद्‌भांड की एक पशु की आकृति की एक बोतल (सांड के प्रकार का जानवर) हिस्सार तथा स्याल्क का स्मरण दिलाती है। ताम्र की दो छेनियाँ, एक कुल्हाड़ी पाँव का अलंकरण और एक श्रृंगिकाकार मूठ वाली रीढ़दार कटार भी मिली है।

(xii) मास्की

मास्की दक्षिण भारत के नवाश्मीय क्षेत्र के अंतर्गत आता है। लेकिन उत्तर तथा दक्षिणी संस्कृतियों का मिलन बिन्दु होने के कारण इसका महत्वपूर्ण स्थान है। यह रायचूर जिले में तुंगभद्रा की सहायक नदी मास्की पर स्थित है। यह रायचूर दोआब के बाह्य प्रदेश में तीनों ओर से नाइस शैलों से घिरा है। इस क्षेत्र में प्रधानतः स्वर्णीय शिरायुक्त स्फटिक चट्टानें (auriferous quartz reef) हैं। अब तक के उत्खनन से केवल दो स्वर्ण उपकरण प्राप्त हुए हैं। थापड़ ने चार संस्कृतियों का अनुक्रम इस स्थल में पाया है। इसके काल I में लघु अश्म व फलकों का व्यापन हुआ। लंबे फलक सैंधव नमूनों के समान लगते हैं। अब तक यहाँ से पत्थर की कुल्हाड़ियाँ उपलब्ध नहीं हुई हैं। एक ताम्र छड़ की प्राप्ति से धातु-कर्म का ज्ञान होता है। अल्प मूल्य व सेलखड़ी के मनके प्रचलित थे। एक नतोदर किनारे वाला, तारे के आकार का मनका महत्वपूर्ण उपलब्धि है। हलके धूसर तथा गुलाबी पांडु भांड प्रचलित थे। निचले स्तर से गुलाबी पांडु भांड प्रचुरता से मिले। निचले स्तर से प्राप्त चित्रित भांडों के 24 ठीकरे मध्य भारत के भांडों से नहीं मिलते। सूती (Fresh water mussel) चूहे, भैंस, भेड़, बकरी के अवशेषों से ज्ञात होता है कि वे मांस खाते थे। मकानों के कोई अवशेष नहीं मिले। लघु-अश्म, काले-लाल भांड तथा लोहा काल II की विशेषताएँ हैं। मास्की की ऊपरी सतह से प्राप्त एक बेलनाकार मोहर पर हाथी हाँकते हुए मनुष्य का चित्रण है। इस मोहर, लंबे चर्ट फलक तथा चित्रित मृद्‌भांड परंपरा के आधार पर, थापड़ ने इस संस्कृति का हड़प्पा संस्कृति से संबंध होने की कल्पना की है।

घ—समस्याएँ और विवेचना

उपर्युक्त ताम्राश्मीय संस्कृतियों के सर्वेक्षण से विदित होता है कि रंगपुर में हड़प्पा संस्कृति का अवक्रमण हुआ है, यद्यपि स्पष्ट संचारण का रूप अभी

स्पष्ट नहीं है। काल II में व्यापक अपकर्ष और ह्रास देखते हैं, पर प्रकाल II C पुनरुत्थान का है। चित्रकला का आधिक्य, काले-लाल-भांड की लोकप्रियता और बड़ी इमारतों का निर्माण इस काल की विशेषता है। सूर्य, सवार (?) और तंबू के चिह्न भी रेखांकित हैं। पचास प्रतिशत रेखांकन हड़प्पा प्रतीकों से बिलकुल नहीं मिलते और शेष दूसरों में भी समानता के लक्षण नहीं दिखाई देते। ऐसा प्रतीत होता है कि लिपि प्रयोग ही नहीं की गयी या संभवतः यहाँ के लोग लिपि से परिचित नहीं थे। काल III में यद्यपि काले-लाल भांड प्रचलित थे, तथापि चमकीले लाल भांड की प्रमुखता थी। काल II में मृद्भांड व शैलियों की बहुलता, काले-लाल भांड और चमकीले भांडों के प्रति अभिरुचि, क्या नये प्रेरणा-मानों या नये आक्रमकों के आगमन का द्योतक है। देसलपुर के काल II B से भी इसी प्रकार के प्रमाण मिलते हैं।

बनास संस्कृति के स्थलों में यह प्रक्रिया पूर्ण विकसित स्तर पर है। उनके बड़े सामूहिक चूल्हे, 30′×15′ यहाँ तक कि 100′×80′ नाप के बड़े भवन, पक्की ईंटों की 37′ की दीवार की संरचना, बहुत प्रकार के मृद्भांड, काले-लाल भांडों का प्रचलन, सैंधव प्रकार की गोटों का प्रयोग और पक्की ईंटों पर हड़प्पा संस्कृति की छाप स्पष्ट दिखायी देती है। क्या हड़प्पा के दस्तकार ही अपने नये स्वामियों की (आक्रमकों) सेवा में यहाँ काम कर रहे थे ?

इस संदर्भ में पहले ही बताया जा चुका है कि संकालियाँ ने मृद्भांड प्रकार और तर्कुचक्करों में विदेशी सादृश्य देखा है। इसी प्रकार की विकास प्रक्रिया को सौराष्ट्र के विभिन्न स्थल जैसे प्रभास पाटन, लखाभावल और सोमनाथ आदि में भी हम देखते हैं।

इस पुनरुत्थान का क्या कारण था ? क्या यह केवल हड़प्पा संस्कृति का अनुक्रमिक विकास था या यह नये प्रेरणा-मानों या नये लोगों के आगमन की देन थी ? इस प्रश्न का उत्तर उनकी ताम्र तकनीकों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा समझा जा सकता है। क्या नये लोग कच्ची धातु (अयस्क) और भिन्न धातु-शोधन तकनीक का प्रयोग कर रहे थे ?

नवदाटोली में धातु-शोधन तकनीक किस संस्कृति की देन थी ? बनास प्राग्हड़प्पा या हड़प्पा की ? अहाड़ और गिलुन्द में पाषाण-उद्योग बहुत ही गौण हैं। जबकि ताम्र प्रगलन के प्रमाण स्पष्ट हैं। क्या प्रस्तर फलक उद्योग का पूर्णतः न मिलना विदेशी परंपराओं व लोगों के आगमन का सूचक है। लेकिन हड़प्पा संस्कृति की तुलना में बनास ताम्र धातु शोधन प्रक्रिया का क्या स्थान है ?

क्या यह सौराष्ट्र की तरह सीधे सांस्कृतिक संचरण क्षेत्र से महत्वपूर्ण रूप में भिन्न है ?

किस प्रकार विभिन्न ताम्र तकनीकों का विश्लेषण सौराष्ट्र की उत्तर हड़प्पा संस्कृति, मध्य भारत और दक्षिणी भारत के तीन सांस्कृतिक समूहों का वर्ग भेद करने में सहायक हो सकता है ? और किस प्रकार पारिस्थितिकी इन तीनों क्षेत्रों की तकनीकों को प्रभावित करती है ?

क्या नवदाटोली के काल II से प्राप्त चावल नये आगंतुकों के आगमन को दर्शाता है या केवल विशेष किस्म के (Oryza sativa) स्थानीय जंगली चावलों की खेती का सूचक है ?

उत्तर में, नागदा के काल II से काला-और-दूधिया भांड नहीं मिलता, जबकि काले-लाल भांड प्रकट होते हैं। जोर्वे और निवासा में काले-लाल भांड नहीं मिलते जबकि मास्की में यह लौह-युगीन है। क्या अस्थि-कलश शवाधान और हस्तनिर्मित धूसर भांड, दक्षिणी निवासा काल की ताम्राश्मीय संस्कृति की देन है ? शर्मा के मतानुसार टोंटीदार कटोरा दक्षिणी पूर्वी-भारतीय नवाश्म संस्कृति का द्योतक है न कि मालवा संस्कृति का एक अंग। यह सब प्रमाण क्या दर्शाते हैं ?

क्या मालवा और जोर्वे लोग काली कपासी मिट्टी का खेती के लिए उपयोग कर सके ? क्या उनकी ताम्र तकनीक से खेती करना संभव था या वे केवल नदी तटीय संकरे जलोढ मैदानों का ही खेती के लिए उपयोग करते रहे ? उनकी पारिस्थितिकी और तकनीकी ज्ञान उनके नागरीकरण में सहायक क्यों नहीं हो सका ?

कम से कम पहली सहस्राब्दी ई० पू० तक काले-लाल भांड क्या एक निश्चित परंपरा को दर्शाता है ? क्या यह परंपरा दोआब में भी पहुँची। काले-लाल भांड के संचरण में पारिस्थितिकी का क्या अवरोध रहा ? और उसके क्या परिणाम हुए ?

ताम्राश्मीय संस्कृति के सर्वेक्षण से उपर्युक्त मुख्य प्रश्न उठते हैं, जिनका विवेचन हम आगे करेंगे।

ङ उत्तर भारत (दोआब)

पारिस्थितिकी की दृष्टि से दोआब (गंगा की घाटी), थार रेगिस्तान, अर्द्ध शुष्क पंजाब और सिंध से पृथक है (देखें अध्याय 2)। थोड़े से पश्चिमी दोआब के हड़प्पा स्थलों के अतिरिक्त, ताम्र संचय दोआब के सबसे प्रारंभिक

पुरातात्विक अवशेष हैं। इनके संबंध में विभिन्न मत प्रचलित हैं। हाईने गेल्डर्न इन्हें आर्य आक्रमणकारियों की देन मानते हैं तो पिगट सैंधव शरणार्थियों की। इनके विपरीत लाल इनका संबंध यहां की आदि जातियों से जोड़ते हैं।

दुर्भाग्यवश अब तक प्राप्त ताम्र संचय किसी स्तरविन्यासित निक्षेप से उपलब्ध नहीं हुए हैं। दोआब के तीनों ताम्र संचय स्थलों—राजपुर पर्सू, बिसौली और बहादराबाद—के बाद के उत्खनन से गेरुए भांड मिले हैं। इस प्रकार दोनों की समकालीनता केवल अप्रत्यक्ष प्रमाण पर ही आधारित हैं। अभी हाल में सैपाई से एक मत्स्य भाला (harpoon) उत्खनन से मिला है।

(i) बहादराबाद

छोटे तने वाली सपीठ थाली, सपीठ कटोरे और चिलमची हड़प्पा संस्कृति से सादृश्य दर्शाती हैं। इसी प्रकार के मृद्भांड आटपुरा, मानपुरा और अन्य स्थलों से मिले हैं। बड़गांव से भी ऐसी सामग्री मिली है।

(ii) बड़गांव

बड़गांव (जिला सहारनपुर) की ऊपरी सतह पर कब्रगाह H की सामग्री मिलती है। यहां से सपीठ थालियां व सिंधु प्रकार के कुल्हड़ मिले हैं। बहादराबाद की तरह रस्सी छाप और गेरुए भांड भी मिले हैं। वलय-स्टैंड (ring stand) पर उत्कीर्ण अलंकरण है। इनके अतिरिक्त अंडाकार मृत्पिंड, एक घर्षं फलक, एक हड्डी का बाणाग्र, केन्द्रीय नाभि वाला पहिया, प्रस्तर बांट और कांचली मिट्टी की चूड़ियां उत्खनन से उपलब्ध हुई हैं। ऊपरी स्तरों से विविध प्रकार के चित्र मिले हैं। इनमें समस्तर पट्टों के अंदर आड़ी जाली के युगल त्रिकोण, लहरियादार रेखाएँ आदि के डिजाइन भी शामिल हैं। पोंडी और बहादराबाद से प्राप्त एक विशिष्ट प्रकार का ताम्र उपकरण (ताम्रकड़े की तरह) यहां की विशिष्ट उत्तर हड़प्पा कालीन संस्कृति के संदर्भ में मिला है।

(iii) आंबखेड़ी

जिला सहारनपुर में स्थित आंबखेड़ी से लाल स्लिप सहित गेरुए भांड बिना किसी चित्रण के मिले हैं। अतरंजीखेड़ा या पंजाब की तरह के उत्कीर्ण मृद्भांड यहां से प्राप्त नहीं हुए। एक सपीठ विशिष्ट प्रकार की उत्कृष्ट अंडाकार सुराही में कब्रगाह H की संस्कृति का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। छोटे तने वाली सपीठ थालियां, केन्द्रीय गुल्म वाले कटोरीनुमा ढक्कन, चिलमची, छोटे

प्याले, बाढ़दार किनारे के बरतन (बाढ़ जैसे) आदि अन्य आकार के मृद्‌भांड भी प्रचलित थे। कूबड़दार सांड और मृत्पिंड सैंधव प्रतीत होते हैं। हमारे मत से हड़प्पा के त्रिकोणपिंड (केक) से ये पिंड भिन्न हैं। कोई भी ताम्र उपकरण यहां नहीं मिला। विभिन्न आकार के हस्त-निर्मित मृद्‌भांड भी प्रचलित थे। एक ईंटों के भट्टे के अवशेष भी मिले हैं। एक लहरदार अलंकरण युक्त लाल भांड (जो राजस्थान में चित्रित धूसर भांड के साथ मिलता है) भी मिला है। यह निरंतरता का द्योतक है। देशपांडे आंबखेड़ी को हड़प्पा का अपकर्षक रूप मानते हैं।

(iv) अतरंजीखेड़ा

जिला एटा में अंतरजीखेड़ा के उत्खनन से गौड़ ने विभिन्न काल की संस्कृतियों के एक लंबे अनुक्रम को खोज निकाला है। काल I से सरंध्र, भंगुर और मोटी बनावट के चाकनिर्मित गेरुए रंग के भांड मिले हैं। बाढ़दार किनारे वाले बर्तन, छोटी-सी टोंटी वाले कटोरे, सपीठ थालियां आदि मृद्‌भांड प्रकार प्रचलित थे। उत्कीर्ण डिजाइन आदि भी मिलते हैं। इस काल के निक्षेप में प्राप्त बालू, बाढ़ आने के प्रमाणों की पुष्टि करती है। वास्तव में साधारण आवासीय निक्षेप की अनुपस्थिति दर्शाती है कि ये सब स्तर बह कर आये हुए निक्षेप हैं।

गौड़ के मतानुसार अभी तक आंबखेड़ी और अतरंजीखेड़ा से प्राप्त सामग्री के बीच सादृश्य स्थापित करना संभव नहीं हो पाया है, जबकि आंबखेड़ी से प्राप्त बहुत से मृद्‌भांड प्रकारों का हड़प्पा संस्कृति से तादात्म्य प्रतीत होता है। अतरंजीखेड़ा से प्राप्त सामग्री इन लक्षणों से भिन्न है। इससे यह परिणाम निकाला जा सकता है कि इन दो संस्कृतियों के बीच कुछ संबंध था लेकिन निश्चित रूप से कोई सीधा तादात्म्य नहीं था। काल II के लगभग 300 वर्ग मीटर क्षेत्र के 25-50 से० मी० सकरे निक्षेप से काले-लाल भांड प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त काली, लाल स्लिप वाले और सादा लाल भांड अधिक प्रचलित थे, जबकि गेरुए रंगीय और चित्रित धूसर भांड बिलकुल नहीं मिलते। काली स्लिप वाले भांड का आकार काले-लाल भांड के समान है। काली स्लिप वाले और काले-लाल भांड भली भांति घुटी हुई मिट्टी के हैं और आमतौर से पतले व अच्छी प्रकार पकाये हुए हैं। दोनों ही उत्तम कोटि के हैं। संभवतः घिसने के कारण इनमें विशेष प्रकार की चमक है। चाक निर्मित भांडों के अतिरिक्त कुछ हस्तनिर्मित भांड भी मिले हैं। काले स्लिप वाले भांडों में यदा-कदा चित्रित डिजाइन अधिक चित्रित धूसर भांडों के सदृश हैं।

वर्गाकार और आयताकार चूल्हों से जली हुई हड्डियां मिली हैं। 14.5 × 9.5 × 3.5 से॰ मी॰ के कुछ ईंट के जले टुकड़े प्राप्त हुए हैं। यह ज्ञात नहीं कि यह किस लिए प्रयुक्त होते थे। करकेतन के कोड और अपशिष्ट शल्क (Waste Flakes) फिर मिलने लगते हैं। यद्यपि कोई भी निश्चित हथियार के आकार के नहीं हैं।

चि॰ धू॰ भांड और काले-लाल भांड के निक्षेप के बीच मिट्टी का भराव है "ऐसा प्रतीत होता है कि बाढ़ ने काले और लाल भांड की बस्ती का अंत कर दिया। इस संस्कृति के थोड़े से निक्षेप को छोड़ यह इस स्तर के यथेष्ट भाग को बहा ले गयी।" मुख्यत: रचना की दृष्टि से, उत्खननकर्ता ने इस पर बल दिया है कि, अतरंजीखेड़ा के काले और लाल भांड का अहाड़ गिलूंद भांड से सादृश्य है।

(v) आलमगीरपुर

मेरठ जिले में हिंडन नदी पर स्थित आलमगीरपुर में हमें हड़प्पा सामग्री मिलती है। इसके प्रथम चरण से हड़प्पा संस्कृति के परवर्ती कालीन अवशेष मिलते हैं। जबकि द्वितीय चरण में चि॰ धू॰ भांड के साथ काले-लाल भांड, काली स्लिप वाले और सादा लाल भांड प्राप्त हुए हैं। कभी-कभी अभ्रक को मिट्टी में मिलाकर भांड बनाये जाते थे। चाकनिर्मित पक्की मिट्टी की वस्तुएं, थूक, सूइयां, हड्डी के बाणाग्र, पांसे, कांच के मनके आदि मिले हैं। तृतीय काल में एन॰ बी॰ पी॰ का अभ्युदय हो जाता है। इसी स्थल पर सर्वप्रथम लोहा चि॰ धू॰ भांड तल से मिला है और यहां से लोहे के कटीले बाणाग्र, भालाग्र, मेखें, और सुइयां मिली हैं। ताम्र निरंतर प्रचलित रहा।

(vi) सैपाई

सैपाई जिला इटावा (उत्तर प्रदेश) में स्थित है। इसकी सतह से 45 से॰ मी॰ की खुदाई से ताम्र-संचय प्रकार का एक मत्स्य भाला, कुछ गेरुए मृद्भांड तथा इनके ठीकरे मिले हैं और एक ठीकरे की स्लिप पर काले रंग से आड़े-तिरछे बने डिजाइन मिले। उल्लेखनीय मृद्भांड हैं—फैली बाढ़ के डिजाइन वाला मर्तबान, कटोरे, चिलमची (कुछ हत्थेदार व टोंटीदार भी थे) मिले। एक बर्तन के टूटे तने के विषय में लाल का मत है कि यह सपीठ थाली का भाग था तथा एक अन्य टुकड़ा गोल आधार का रहा होगा। मृद्भांडों की मुख्य विशिष्टता उनके उत्कीर्ण अलंकरण में है। बहुत से मृद्भांडों के ऊपरी भाग

के बाहर की तरफ मोटे दांतेदार पट्ट, बिंदुओं की पंक्तियां या रेखिका या त्रिभुजाकार खंडों का समूह (रेखिका की पंक्तियों को बांधते हुए) उत्कीर्ण हैं। अन्य शिल्प उपकरण हैं, गेंदे कूटक (Pounder), सान, चक्की, बालुकाश्म की रंग-पट्टिका, एक चर्ट फलक और एक करकेतन का फलक है। भट्टे में पकाये गये बहुत से मिट्टी के टुकड़े व बैल (Bos indicus) की कुछ हड्डियां भी मिली हैं। काल के अनुसार सेपाई से प्राप्त मृद्भांडों की सैंधव प्रकारों से थोड़ी समानता है।

(vii) चिरांद

सिन्हा तथा वर्मा ने बिहार के सारन जिले में स्थित गंगा के किनारे बसे गांव चिरांद में उत्खनन कर ताम्राश्मीय से उत्तर ऐतिहासिक काल का सांस्कृतिक क्रम खोज निकाला है। यहां के नवाश्मीय काल से चावल, गेहूँ, मूंग, मसूर तथा बकरी, सूअर, हिरन, हाथी, दरयाई घोड़ा, मछली की हड्डियां, घोंघों के अवशेष मिले हैं, जो कि उनके कृषि-कर्म तथा भोजन सामग्री की जानकारी देते हैं। विभिन्न रंगों के यशब, करकेतन, बादली पत्थर और सेलखड़ी, कांचली मिट्टी तथा मिट्टी के बेलनाकार, नालाकार, त्रिभुजी और गोलाकार मनके भी मिले हैं। हड्डी और मिट्टी के बने लटकन और चूड़ियां भी प्रचलित थीं। हड्डी का बना छोटा कुल्हाड़ीनुमा लटकन और कंघी भी उपलब्ध हुई हैं। मृण्मूर्तियों में गाय, चिड़ियां और सांप बने हैं तथा चौकोर तावीज भी मिले हैं। सूअर तथा हिरन के आकार के पात्र-शवाधान भी देखने को मिले। पत्थर के बड़े हथियारों की अपेक्षा लघु-अश्म जैसे चाकू की नोकें, और फलक प्रचुर मात्रा में मिले हैं। इनके अलावा हड्डियों के (मुख्यत: हिरन के सींग के) बने छेनी, गैंती, घोटा, हथौड़ा, छड़-कुल्हाड़ी, पार्श्व-खुरचनी, सिरा खुरचनी, नाकेदार सूई, सूआ, दंत कुरेदनी, बरमा, बाणाग्र, सानी आदि हथियार प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। एक निहाई भी मिली। घास और मिट्टी के बने गोलाकार मकानों की दीवारों पर दोनों ओर से मिट्टी का पलस्तर किया जाता था। कुछ खंबों के निशान भी (मकानों के लिए) देखने को मिले। लाल-भांड अधिक प्रचलित था। धूसर, काले और काले-लाल भांड भी मिले हैं। लेकिन चिरांद के ताम्राश्मीय काल में काले-लाल भांड बहुत प्रचलित थे। चमकीले लाल-भांड रंगपुर के ताम्राश्मीय चमकीले लाल भांडों का स्मरण कराते हैं। पात्रों पर विविध प्रकार का चित्रण हुआ है। पात्रों के कंठों पर रस्सी तथा पट्टी का डिजाइन आम है।

कालानुक्रम की दृष्टि से चिरांद की नवाश्मीय संस्कृति का दक्षिणी भारत तथा बुर्जाहोम की नवाश्मीय संस्कृति से क्या संबंध था, कहना कठिन है। यदि नवाश्मीय संस्कृति के लोगों ने ही सर्वप्रथम इस भूमि को जोता तो यह मानना पड़ेगा कि वे कहीं बाहर से यहाँ आये। क्या वे छोटा नागपुर से आये, या दक्षिणी-पूर्वी एशिया अथवा पूर्वी-एशिया से ? भारत की सीमा पर सर्वप्रथम (किली गुल मोहम्मद) नवाश्मीय समूह की तिथि 3400 ई० पू० है। लेकिन इनका चिरांद की नवाश्मीय संस्कृति से क्या संबंध रहा, इस पर कुछ कहा नहीं जा सकता।

यद्यपि इस स्थल से ताम्र उपकरण प्राप्त नहीं हुए पर संकालिया इसे ताम्राश्मीय संस्कृति समझते हैं और इसलिए इसे ताम्राश्मीय संस्कृति के अंतर्गत देखा गया है।

(viii) राजार धीबी

राजार धीबी जिला बर्दवान की अजय घाटी में स्थित है। कच्ची मिट्टी के मकान, हस्त-निर्मित मोटे धूसर या हलके लाल मृद्भांड और लघु-अश्म काल II की विशेषता हैं। शवाधान में शव का पूर्वाभिमुखीकरण मिलता है। ये अपूर्ण शवाधान हैं क्योंकि उनका ऊपरी भाग नहीं मिलता। काल II में एक पक्की गली के पार्श्व में दो मकान मिले हैं। मकानों में सुव्यवस्थित विन्यास है। काले-लाल, चित्रित लाल और चमकीले लाल भांड मिलते हैं। चित्रण काले या सफेद रंगों से किया गया है। घुटी मिट्टी का प्रयोग इनमें किया गया है और रचना कुशलता से की गयी है। डिजाइन ठोस त्रिकोण वाले, जालीदार, रेखा-छायाएं और समचतुर्भुज, और सिग्मा और साथ में लहरदार रेखाएं वाले हैं। दास गुप्ता के मतानुसार फूलदार टोंटी, पांव वाले कुल्हड़ और हत्थेदार बर्तनों की अलीसार हुक के साथ सादृश्य है। इस काल में विस्तारित द्वितीयक शवाधान मिलते हैं। शवाधानों से ताम्र चूड़ियां भी मिली हैं। इनके अतिरिक्त हड्डी के बाणाग्र और सूए भी मिले हैं। इस काल की रेडियो कार्बन तिथि 1012 ± 120 ई० पू० निर्धारित की गयी है। यह समझा जाता है कि यह गणना हिन्दुस्तान की ही रेडियो कार्बन प्रयोगशाला में की गयी, जबकि ऐसी अन्य प्रयोगशाला (फिजीकल रिसर्च लेबोरेटरी, अहमदाबाद के अतिरिक्त) नहीं है। अभी हाल में हमें ज्ञात हुआ कि जादवपुर विश्वविद्यालय के किसी आचार्य ने यह गणना कोपेनहेगन की प्रयोगशाला में करवायी थी, परंतु लोगों में भ्रम है कि शायद यह जादवपुर में ही की गयी थी। काल III में काल II के सदृश

मृद्भांड मिलते हैं। इस काल में घिसे हुए प्रस्तर-कुल्हाड़े व हड्डी के हथियार मिलते हैं। लौह उपकरण भी इस काल में लोकप्रिय हो गये थे।

अध्याय—3 : संदर्भिका

इस अध्याय विषयक मुख्य ग्रंथ :

D. P. Agrawal	:	The Copper Bronze Age in India, 1971 (Delhi).
D. P. Agrawal and A. Ghosh, (Eds.)	:	Radiocarbon and Indian archaeology 1973, (Bombay)
B. and F. R. Allchin	:	Birth of Indian Civilisation, 1968 (Harmondsworth).
J. M. Casal	:	Fouilles de Mundigak, 1961 (Paris).
J. M. Casal	:	Fouilles de Amri, 1964 (Paris).
J. M. Casal	:	La Civilisation de Indus et ses Enigmes, 1969 (Paris)
R. W. Ehrich	:	Chronology in Old World Archaeology 1965 (Chicago).
S. Piggott	:	Prehistoric India, 1961 (Harmondsworth).
H. D. Sankalia	:	Prehistory and Protohistory in India and Pakistan, 1962-63 (Bombay).
R. E. M. Wheeler	:	The Indus Civilisation, 2nd Ed., 1962, (Cambridge).

इस अध्याय विषयक लेख :

A. Ghosh	:	The Bull. of the National Inst. of Sci. of India, No. I, p. 37, 1952.
B. DeCardi	:	Antiquity, Vol. 33, p. 15, 1959.

F. A. Khan	:	Pakistan Archaeology, 1964-65.
G. F. Dales	:	Proc. of Amer, Phil. Soc., Vol. 40, p. 130, 1966.
G. F. Dales	:	in Chronology in Old World, Ed. R. W. Ehrich, 1965 (Chicago).
H. D. Sankalia	:	Artibus Asiae, Vol. 26, p. 312, 1963.
J. M. Casal	:	Pakistan Archaeology, 1965-65.
B. B. Lal	:	Antiquity, Vol. 46, p. 282-287, 1972.

●

अध्याय 4

कालानुक्रम तथा विधि-निर्धारण

तकनीकी दृष्टि से ताम्र व प्रस्तर उपकरणों के उपयोग के काल को ताम्राश्मीय युग कहा जा सकता है। पाश्चात्य देशों में प्रचलित अर्थों में यह नवाश्मीय व कांस्य युग के बीच के संक्रमण काल के लिए प्रयोग किया जाता है। परंतु भारत उपमहाद्वीप में समरस विकास हुआ ही नहीं। समय के हिसाब से दक्षिण का नवाश्मीय काल हड़प्पा संस्कृति का समकालीन है। धातुओं से भरपूर होते हुए भी, हड़प्पा संस्कृति में विस्तृत पैमाने पर चर्ट फलक प्रचलित थे। हड़प्पा के पतन के पश्चात चारों ओर ह्रास के चिह्न लक्षित होते हैं। इस संस्कृति के पश्चात् जन्मी संस्कृतियों में मुख्यतः प्रस्तर उपकरणों का ही प्रयोग किया गया, यद्यपि सीमित रूप में धातु का उपयोग भी प्रचलित था। इस प्रकार भारत का उत्तर हड़प्पा कालीन "ताम्राश्मीय युग" पद यहाँ के सामाजिक विकास के एक चरण का द्योतक नहीं है। इस पद का उपयोग यहाँ पर केवल विवरणात्मक रूप में किया गया है। इस युग के अंतर्गत हम प्रस्तर और ताम्र प्रयोग करने वाली संस्कृतियों का अध्ययन करेंगे।

"प्रागहड़प्पा" पद विवादग्रस्त है क्योंकि इसके अंतर्गत कुल्ली संस्कृति जैसी हड़प्पा-समकालीन और अन्य इतर-हड़प्पा संस्कृतियों को भी सम्मिलित किया जाता है। इसके अतिरिक्त, कालीबंगन और मुंडीगाक की तथाकथित प्रागहड़प्पा संस्कृतियाँ परस्पर एकदम भिन्न सांस्कृतिक इकाइयाँ हैं और इनके बीच महत्वपूर्ण कालांतर भी है। काल और क्षेत्र की दृष्टि से कोटदीजी (या सोथी या कालीबंगन I) संस्कृति काफी विस्तृत रूप से फैली हुई थी, और इसमें क्षेत्रीय रूपांतरण भी हुए थे। हमें इस संभावना पर भी विचार करना चाहिए कि हड़प्पा संस्कृति के मुख्य शहरों व चौकियों के नागरिक व शहरी रूप के युग में भी सोथी संस्कृति हड़प्पा संस्कृति का ही एक ग्रामीण पक्ष रही हो। प्राप्त तथ्यों से प्रतीत नहीं होता कि कालीबंगन में प्रागहड़प्पा संस्कृति का सहज परिवर्तन बाह्य आक्रमण या इस स्थल के पुनः बसने के कारण हुआ। बल्कि ऐसा लगता है जैसे आजकल की तरह किसी म्युनिसिपल कारपोरेशन ने एक ग्राम को नागरीकरण के लिए

अपनी सीमा में ले लिया हो। इस संदर्भ में घोष का का मत उल्लेखनीय है, "दो [सोथी और हड़प्पा] प्रकार के मृद्भांडों के साथ-साथ प्राप्त होने से लगता है कि वे (सैंधव लोग) स्थानीय आबादी के साथ उन्हीं स्थलों में ही नहीं, संभवतः उन्हीं मकानों में रहते थे।" सोथी के तथाकथित प्राग्हड़प्पा मृद्भांडों के विषय में घोष लिखते हैं, वे "वास्तव में सरस्वती व दृषद्वती के सभी स्थलों में (सतहों से) हड़प्पा मृद्भांडों के साथ मिश्रित मिलते हैं।" उपर्युक्त तथ्य स्पष्ट करते हैं कि तथाकथित प्राग्हड़प्पा संस्कृतियाँ, वस्तुतः हड़प्पा की नागरिक, मानकीत, एकरूपी, व्यापारिक संस्कृति की ही समकालीन ग्राम्य पक्ष थी। इस मत के विपरीत थापड़ दो अन्य विकल्प प्रस्तुत करते हैं। (i) भूकम्प के कारण जो प्राग्हड़प्पा आबादी निकटवर्ती क्षेत्रों में चली गयी थी, कालांतर में कालीबंगन के समृद्ध शहर हो जाने के कारण वहीं वापिस लौट आयी और कालीबंगन की खुदाई के निम्नतम तल से उपलब्ध मृद्भांड इन्हीं लोगों की देन हैं। (ii) हड़प्पा संस्कृति के अंदर ही ऐसे भी लोग थे जो प्राग्हड़प्पा प्रकार के मृद्भांडों का प्रयोग करते थे। इस व्याख्या के आधार पर हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो में प्राग्हड़प्पा मृद्भांडों का पाया जाना इस प्रकार समझा जा सकता है। थापड़ की इस वैकल्पिक व्याख्या से भी प्राग्हड़प्पा व हड़प्पा संस्कृतियों की समकालीनता की ही पुष्टि होती है। इस प्रकार इन तथ्यों का किसी अन्य ढंग से व्याख्या हो ही नहीं सकती।

कदाचित् सिंध का नागरीकरण तीव्रगति से हुआ हो, लेकिन कोटदीजी का अति स्थूल परकोटे में बंधा गाँव नागरीकरण का दहलीज पर खड़ा था। संभवतः कृषिजन्य अतिरिक्त उत्पादन, व्यापार की आवश्यकता व बाढ़ों के निरंतर प्रकोप ने इन लोगों को एक नये शहर के योजनाबद्ध निर्माण के लिए मजबूर कर दिया। उसके पश्चात् शहरी तौर तरीके व नये मानक निर्धारित किये गये। हड़प्पा संस्कृति की भारतीय व आकस्मिक उत्पत्ति की यही व्याख्या हो सकती है। यह व्याख्या कालानुक्रम की समस्याओं को भी आसान बना देती है। अतः हम इन तथाकथित प्राग्हड़प्पा संस्कृतियों को, उत्तर पश्चिमी इतर हड़प्पा संस्कृतियों के अंतर्गत रखेंगे और इनके कालानुक्रम की विवेचना भी अलग से करेंगे। (परंतु आरेखों व तालिकाओं में बहु-प्रचलित प्राग्हड़प्पा शब्द का ही प्रयोग किया गया है।)

I. काल निर्धारण की समस्याएं

सर्वप्रथम पिग्गट ने पश्चिमी पाकिस्तान की बिखरी हुई पुरातात्विक सामग्री का विशद संश्लेषण किया था। बलूचिस्तान की क्वेटा संस्कृति के विभाजन को

समझने के लिए उसने मैकाउन का ईरानी समीकरण प्रयुक्त किया। इस समीकरण के अनुसार ईरान की भांति ही, क्वेटा संस्कृति के उत्तरी क्षेत्र में लाल मृद्भांड संस्कृति व दक्षिण क्षेत्र में पांडु मृद्भांड संस्कृति फैली हुई थी। डी कार्डी की हाल की खोजों में क्वेटा, दक्षिण-पश्चिम व सिंध में भी टोगाउ प्रकार के लाल मृद्भांड के मिलने से उपर्युक्त वर्गीकरण निर्मूल सिद्ध हो जाता है। डी कार्डी ने इसीलिए कहा है कि बलूचिस्तान में यह वर्गीकरण गलत हो जाता है, क्योंकि लाल मृद्भांड मध्य कलात तक मिलते हैं दूसरी ओर पांडु मृद्भांड क्वेटा, दक्षिण-पश्चिम में ही नहीं, बल्कि सिंधु की ओर तक मिलते हैं। बहुत से स्थलों में, लाल और पांडु दोनों ही प्रकार के मृद्भांडों में एक सा अलंकरण किया गया है। हाल में डी कार्डी और फेयरसर्विस ने दोनों संस्कृतियों के सहज संबंधों के और भी सूत्रों को खोज निकाला है। मुंडीगाक और आम्री के उत्खनन से भी उपर्युक्त तथ्यों की ही पुष्टि हुई है।

काल निर्धारणार्थ फेयरसर्विस ने सांख्यिकीय पद्धति का उपयोग किया है। इसके अनुसार केवल एक काल के स्थलों से प्राप्त मृद्भांडों का मात्रात्मक विश्लेषण किया गया। इस प्रकार उसके द्वारा निर्धारित प्रत्येक "काल" मृद्भांडों के प्रकारों की सांख्यिकीय प्राप्ति पर निर्भर करता था। इस पद्धति को अपनाने के कारण फेयरसर्विस को गंभीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। उदाहरणार्थ किली गुल मोहम्मद काल II को विशिष्ट रूप से हस्तनिर्मित मृद्भांड का युग माना गया। इस काल में 12 मृद्भांड प्रकारों में से 10 चाक-निर्मित निकले। चाइल्ड ने शायद इसीलिए अमरीकी पुरातत्व के अति वैज्ञानिकीकरण को अवांछनीय बताया है। डेल्स आदि ने भी फेयरसर्विस की इस पद्धति की काफी आलोचना की। परंतु फेयरसर्विस ने इन आलोचनाओं के कारगर उत्तर दिये हैं। इस क्षेत्र में सांस्कृतिक परिवर्तनों की व्याख्या करने के लिए उसने एक सांस्कृतिक मानवशास्त्री दृष्टिकोण का उपयोग किया है। उसने हड़प्पा संस्कृति के प्रादुर्भाव से पतन तक के विकास को पांच सांस्कृतिक-आर्थिक चरणों में बांटा है। उसकी पद्धति काल-निर्धारण की दृष्टि से इतनी उपयुक्त नहीं, जितनी पुरातात्विक सामग्री को समझने के लिए है।

इन संस्कृतियों का काल निर्धारण मुख्यतः दो प्रकार के प्रमाणों पर आधारित है। (i) मैसोपोटामिया और ईरान से संपर्क और (ii) रेडियो कार्बन तिथियां। इस विषय में व्हीलर की यह चेतावनी ध्यान में रखनी आवश्यक है कि इस क्षेत्र के अनेक जन-समूहों अथवा संस्कृतियों में इतनी अधिक अननुमेय अपरिवर्तनशीलता है कि यह निश्चित करना बड़ा कठिन है कि कहाँ तक

सांस्कृतिक समानताएँ कालानुक्रमिक समीकरणों को द्योतक हैं। इन कठिनाइयों के कारण डेल्स ने निम्नलिखित तथ्यों पर आधारित स्तरविन्यास की एक सरल एवं तार्किक पद्धति का प्रयोग किया है। (i) मृद्‌भांड प्रारूपों का प्रथम आविर्भाव; (ii) केवल मृद्‌भांडों की अपेक्षा सभी प्रकार की उत्खनित सामग्री का आपेक्षिक काल-वितरण; और (iii) संपूर्ण पुरातात्विक सामग्री के आधार पर काल विभाजन। इस पद्धति की उपयोगिता पर कोई संशय नहीं, परंतु अधिकांश क्षेत्रों पर प्रकाशित विवरणों के अभाव में संश्लेषण के लिए डेल्स का पद्धति का उपयोग करना कठिन हो जाता है। डेल्स ने वैसे भी बहुत से स्वयं निर्धारित काल-प्रभेदों की निरपेक्ष तिथियां नहीं दी हैं।

यहाँ हम पहले मेसोपोटामिया और ईरानी पुरातात्विक संपर्कों और सादृश्य के आधार पर कुछ निरपेक्ष तिथियां निर्धारित करने का प्रयास करेंगे। हिस्सार एक बहुत महत्वपूर्ण क्षेत्र है जहाँ से प्राप्त सामग्री को आधार मान कर बलूचिस्तान के अनिश्चित सांस्कृतिक कालानुक्रम को समकालीन ईरान से जोड़कर निश्चित किया जा सकता है। पुरातात्विक व रेडियो कार्बन प्रमाणों द्वारा हिस्सार काल IA को 3700 ई० पूर्व व हिस्सार IB का प्रारंभ 3500 ई० पूर्व माना जा सकता है। दूसरे सिरे पर ईरान की तिथियां मेसोपोटामियाँ के संपर्कों पर निर्भर करती हैं। उबेद काल उत्तर-पश्चिम में पिसडेली को लगभग उबेद स्तर का मानकर (परवर्ती उबेद, 4000 ई० पूर्व) पश्चिम से पूर्व की ओर बढ़ते हुए सियाबाद, गियान, स्यालक और हिस्सार तक एक सांस्कृतिक सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। रेडियो कार्बन तिथियों के आधार पर पिसडेली संस्कृति का काल लगभग 3800 ई० पूर्व व हिस्सार VII का लगभग 2150 ई० पूर्व है। पिसडेली संस्कृति हिस्सार IA और स्यालक काल III की समकालीन हैं। और हसानलू VII हिस्सार III भी प्रायः समकालिक हैं।

निम्न विवेचना में तिथि निर्धारण के लिए पुरातात्विक व रेडियो कार्बन प्रमाणों को अलग-अलग रखने का प्रयत्न किया गया है।

II. उत्तर-पश्चिमी इतर-हड़प्पा (प्राग्हड़प्पा) संस्कृतियाँ

क—पुरातात्विक प्रमाण

भारत-पाक उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिमी पहाड़ी क्षेत्र की संस्कृतियों का यहाँ हम केवल कालानुक्रम-सर्वेक्षण करेंगे जो अफगानिस्तान से प्रारंभ किया जायगा।

सर्वप्रथम हम दक्षिणी अफगानिस्तान में स्थित देह मोरासी घुंडई और मुंडीगाक के विभिन्न कालों की सांस्कृतिक विशिष्टताओं का संक्षेप में वर्णन करने के पश्चात् इन स्थलों की बलूचिस्तान के स्थलों से तुलना करेंगे।

मोरासी काल I से कुछ अपरिष्कृत बर्तन, जिन्हें "सईद कला" मृद्भांड का नाम दिया गया है, मिले। अन्य कोई सांस्कृतिक अवशेष यहां नहीं मिले। पर काल II में यहां एक छोटे ग्राम के रूप में बस्ती प्रकट हुई। इस काल के मुख्य मृद्भांड पंजबई दूधिया-पीली-सतह व मैवंड-लाल-सतह हैं। इस काल के ही कुछ मृद्भांडों की सदृश्यता स्यालक काल III और हिस्सार II से है। ताम्र की केवल कुछ सुइयाँ व नलियां ही मिली हैं। इनके अतिरिक्त इसी काल से क्षोब मृण्मूर्तियां व कई खाने-वाली मुहरें भी मिलती हैं। इस काल के वर्तुलाकार चषक की तुलना मुंडीगाक काल II से की जा सकती है। काल III के मुख्य लक्षण हैं, ईंटों से बनी कब्र और" पशमूल लाल स्लिप वाले मृद्भांड। काल III में बस्ती उजड़ने के कुछ बाद काल IV के निक्षेप से ताम्र की खानेदार मोहर और लहरदार मृद्भांड मिले।

कजाल ने मुंडीगाक से उत्खनित सामग्री को सात कालों में बाँटा है। काल I में एक छोटी सी बस्ती व हस्तनिर्मित मृद्भांड मिलते हैं। इसके शीघ्र पश्चात् ही प्रकाल I_2 में चाकनिर्मित मृद्भांड, ताम्र व चित्रित सांड की लघु मूर्तियां भी उपलब्ध हुई हैं। ताम्र उपकरण मानवाकार मृण्मूर्तियां, प्रस्तर की नोकें व फलक, पकी मिट्टी के चक्र, हड्डी का सूआ और पत्थर की कुदाली, काल II की विशेषताएँ हैं। काल III में सिंधु का प्रभाव अधिक लक्षित होता है। हड्डी व प्रस्तर मोहरें, तथा पकी मिट्टी की नालियां उल्लेखनीय हैं। हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी और बसूला भी मिले। काल IV में एक महल, एक मंदिर व दो परकोटों से घिरा 1 कि० मी० घेरे वाले एक दुर्ग के अवशेष इस बात के प्रमाण हैं कि यह स्थल नागरीकरण की ओर अग्रसर होने लगा था। इसी काल से क्षोब प्रकार की लघुमूर्तियां भी मिली हैं। हस्त-निर्मित मृद्भांड व न्यून संख्या में ताम्र उपकरण काल V के ह्रास के द्योतक हैं। सूक्ष्म डिजाइन वाले लाल मृद्भांड काल VI की विशिष्टताएं हैं, तो लोह उद्योग काल VII की।

ख. डेल्स के चरण C संस्कृतियों के परस्पर संबंध।

चाक, ताम्र और बस्तियों का आविर्भाव डेल्स के चरण C की पहचान है। डेल्स ने राना घुंडई I व सूर जंगल काल I चरण को C में रखा है। परंतु न तो यहाँ स्थायी बस्तियां थीं और न चाकनिर्मित मृद्भांड ही।

उपर्युक्त विशिष्टताओं को देखते हुए चरण C में मुंडीगाक I (अफगानिस्तान), अंजीरा II तथा क्वेटा व झोब के अन्य स्थलों को रखा जा सकता है। लेकिन मुंडीगाक I के हस्तनिर्मित मृद्भांडों व अर्द्ध यायावर जीवन की साम्यता राना घुंडई I से ठीक बैठती है। यद्यपि मुख्यतः हड्डी व प्रस्तर के हथियार प्रचलित थे, फिर भी मुंडीगाक I_2 से चाकनिर्मित मृद्भांड व धातु के फलक तथा प्रकाल I_4 से कुछ दूसरी वस्तुएँ भी मिली हैं। किलीगुल मोहम्मद के काल II व III (डेल्स इन्हें एक ही काल के अंतर्गत रखते हैं) के 22 मृद्भांड प्रकारों में से 17 हस्तनिर्मित थे। इन कालों के मृद्भांडों की विशिष्टताएं हैं, बिंदु चिह्नित झूलते त्रिकोण और बिंदु चिह्नित अष्ट अथवा षष्ठ कोण। यही डिजाइन हिस्सार IC, बाकुन III A, स्याल्क III 1-5 से भी मिले हैं। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम मुंडीगाक काल I के द्विरंगी मृद्भांडों में पट्ट डिजाइन देखने को मिलती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य विशेषताएँ हैं, मृद्भांडों की सतहों के निरूपण में विशेष दक्षता और टोकरी चिह्नित आर्द्र भांड (Wet Ware)। मुंडीगाक काल I से मिलने वाले टोगाउ A मृद्भांड शैलीगत दृष्टि से परवर्ती अंजीरा II और स्याल्क III 4-5 काल के सदृश्य हैं। जो कि मुंडीगाक 1-5 और हिसार IC के प्रकार के हैं। हत्थेदार अनगढ़ पत्थर के बांट भी इस चरण में मिलते हैं। समानांतर धारों वाले चकमक फलक हिस्सार I, स्याल्क III, और अंजीरा II से उपलब्ध हुए हैं। सांडों की मृण्मूर्तियां झोब घाटी के संकलनों के अतिरिक्त केवल मुंडीगाक की खुदाई से ही प्राप्त हुई हैं, जबकि राना घुंडई से कोई नहीं मिली। डी कार्डी के मतानुसार सांड की मृण्मूर्तियां स्याल्क काल II और अंजीरा में भी मिली हैं। अलाबास्टर पात्र मुंडीगाक I और स्याल्क III 5-7 कालों में प्रचलित थे। काले लंबे से त्रिकोण, धारीदार त्रिकोण के जालीदार पट्ट आदि कुछ डिजाइनों के आधार पर डी कार्डी अंजीरा काल II की तुलना स्याल्क काल I से करती है। तुलनात्मक दृष्टि से स्याल्क III का सादृश्य इस चरण से अधिक है, परंतु स्याल्क में चाकनिर्मित मृद्भांड काल II तक प्रकट नहीं हुए।

उपर्युक्त सामग्री के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि अधिकांश अवशेष स्याल्क III 4-5 और हिस्सार I के B और C चरणों के अनुरूप हैं। अतः चरण C का काल लगभग 3300 से 3000 ई० पूर्व निर्धारित किया जा सकता है। चरण C के स्थल मुख्यतः अफगानिस्तान व उत्तर और मध्य बलूचिस्तान में हैं। इससे अगले चरण में न केवल अफगानिस्तान, बलूचिस्तान बल्कि सिंध में भी स्थायी बस्तियां व द्विरंगी तथा बहुरंगी मृद्भांड प्रकट होने

सकते हैं। आम्री के काल I और II के सांस्कृतिक अवशेषों को हम डेल्स के चरण D के अंतर्गत लेंगे।

कजाल ने सिंध में आम्री की उत्खनित सामग्री को तीन कालों में बांटा है। प्रकाल I आम्री संस्कृति; काल II अंतवर्ती व काल III हड़प्पा संस्कृति का है। भंडार के घड़े, हस्त-निर्मित मृद्भांड, बोलापत्थर और कुछ ताम्र के टुकड़े आदि IA काल की विशिष्टताएँ है। कुछ ठीकरे टोगाउ C के सदृश्य है। कच्ची ईंटों के मकान व विविध प्रकार के डिजाइन काल IB की विशिष्टताएं हैं। चाक-निर्मित मृद्भांड, मिट्टी व पत्थर स बने मकान (कुछ खोखले चबूतरे वाले) काल IC में मिलते है। एक ठीकरे में अंकित कुबड़े सांड व कुछ अन्य पशु रूप डिजाइन अंतिम काल ID का प्रभेद करते है। इससे पूर्व के डिजाइन केवल ज्यामितिक है। काल I के विविध भागों में विकास की निरंतरता का आभास होता है (आरेख 4)। काल I के पश्चात् टीले को समतल स्तर बनाकर ही, काल II की बस्ती शुरू होती है। लेकिन कोई सांस्कृतिक विच्छेद नजर नहीं आता। आम्री मृद्भांडों के साथ-साथ हड़प्पा किस्म के ठीकरों के सहअस्तित्व के कारण काल II को अंतवर्ती काल कहा जा सकता है। काल III पूर्णरूपेण हड़प्पा संस्कृति का है।

अब हम प्रारंभिक संस्कृतियों के कालानुक्रमिक सह-संबंधों पर प्रकाश डालेंगे। कालीबंगन के अतिरिक्त राजस्थान के बहुत से स्थलों से सोथी मृद्भांड मिले हैं। बहावलपुर और काटदीजी में स्थायी बस्ती के अवशेष मिलते हैं। यद्यपि द्विरंगी व बहुरंगी मृद्भांडों के अनेक आकार और डिजाइन समान हैं, तथापि क्षेत्रीय विभाजन की दृष्टि से (डेल्स का मत पिछले अध्याय 2 में दिया जा चुका है) द्विरंगी अलंकरण निचले सिंध के मैदान (आम्री) और दक्षिणी गिरिपादों मे केन्द्रित था, तो बहुरंगी अलंकरण नाल के उच्च स्थलों में। संभवत: बहु व द्विरंगी अलंकरण और कुबड़े सांड का स्थापन यहां अफगानिस्तान से हुआ हो। आम्री और नाल से पशु व मानवी लघु मूर्तियां उपलब्ध नहीं हुई, जबकि मुंडीगाक काल II से मिट्टी की नारी लघु मूर्तियां मिली हैं। जैसे पहले भी कहा जा चुका है कि डेल्स का कथन है, यद्यपि शुरू से ही पहाड़ी और मैदानी बस्तियों में एक दूसरे का प्रभाव मालूम देता है, लेकिन मूलत: वे विभिन्न परंपराओं की उपज थे। दोनों में से किसी का भी उद्गम अभी तक निश्चित नहीं है। वैसे बहु-रंगी परंपरा का स्रोत मुंडीगाक होते हुए, पश्चिम की ओर खोजा जा सकता है।

मुंडीगाक काल I 4-5 से चरण C के अंत में द्विरंगी मृद्भांड मिलने लगते हैं। पिगट और गॉर्डन के मतानुसार नाल की कब्रगाह उसकी बस्ती से बाद की है। लेकिन नाल कब्रगाह के सदृश, बहुरंगी अलंकरण और छल्लेदार आधार वाले कटोरे, मुंडीगाक काल IV में मिलते हैं और इस प्रकार ये नाल के D और F क्षेत्र के बाद के स्तरों से पूर्ववर्ती माने जाने चाहिए। दूसरी ओर नाल के मत्स्य डिजाइन वाला एक कटोरा मुंडीगाक काल IV से भी उपलब्ध हुआ है। छल्लों से अलंकृत धूसर कटोरे, नाल के बहुरंगी मृद्भांड और केची बेग (स्याह स्लिप पर सफेद) मृद्भांड के बीच संबंध इंगित करते हैं। अंजीरा काल III से टोगाउ D ठीकरों के साथ नाल जैसे बहुरंगी मृद्भांड मिले हैं। अंजीरा काल III के मकानों की नींव में अनगढ़ से चौकोर पत्थरों का प्रयोग किया गया है। स्याह में इसी चरण का बना एक चबूतरा मिला है। नाल की खुदाई से प्राप्त एक प्याला मुंडीगाक काल IV के सदृश है और F क्षेत्र का एक बर्तन आकार और अलंकरण में सदात मृद्भांड के समरूप है।

जैसा कि ऊपर भी बताया गया है आम्री काल IA कि विशिष्टताएँ हस्तनिर्मित मृद्भांड (थोड़े से चाक-निर्मित भी), ताम्र के टुकड़े, व चर्ट फलक हैं। इस काल की सबसे महत्वपूर्ण उपलब्धि टोगाउ C कालीन ठीकरे हैं, जो कि मध्य और उत्तरी बलूचिस्तान के संबंधों की सूचक हैं। सिंधु सभ्यता के कुबड़े सांड का चित्रण आम्री के अंतिम चरण I D काल से मिला है। आम्री काल II व कोटदीजी में द्विरंगी मृद्भांड का चलन था। यद्यपि कोटदीजी व कालीबंगन के सम्पूर्ण अवशेषों में एकदम एकरूपता नहीं है तो भी कोटदीजी व कालीबंगन प्राग्हड़प्पा मृद्भांडों में सगोत्रता स्पष्ट है। ये मृद्भांड "सोथी", "कालीबंगन" और "कोटदीजी" आदि कई नामों से प्रसिद्ध हैं। जैसे पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि ये तथाकथित प्राग्हड़प्पा ग्राम स्थल, हड़प्पा संस्कृति के समकालीन थे, अथवा इस नागरिक संस्कृति के ही ग्रामीण पूरक थे। मुंडीगाक काल II और III में ताम्र अपेक्षाकृत अधिक मिलता है जैसे दो भरगोलवाली सूइयाँ, नाकेदार सूइयाँ, हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ियां और बसूला (स्यालक III के सदृश) आदि। बहुत अच्छे बने हुए समानांतर धारों वाले प्रस्तर फलक भी इस काल में काफी प्रचलित थे। मुंडीगाक काल IV और कोटदीजी से "लौरेल" पर्णाकार के बाणाग्र मिले हैं। इसी चरण से चित्रित कुबड़े सांड व नारी की लघु मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। सिंध व बलूचिस्तान संस्कृतियों से भी पूर्व, कुबड़े सांड की लघु मूर्तियाँ, मुंडीगाक काल III से मिलती हैं।

इसी चरण से सकेन्द्रीय डिजाइनवाली हड्डी व प्रस्तर को मोहरें भी प्राप्त हुई हैं, जबकि धातु की कोई मोहर नहीं मिली।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि फल-धारक बर्तन, धूसर मृद्भांड, पकी मिट्टी की नारी लघु मूर्तियाँ, ताम्र की, हत्थे के लिए छेदवाली, कुल्हाड़ियाँ और मोहरें आदि अवशेषों के आधार पर इस काल को हिस्सार II और स्यात्क III के समकक्ष रखा जा सकता है। अतः डेल्स के चरण D का काल लगभग 3000 से 2700 ई० पूर्व के बीच निर्धारित किया जा सकता है।

ग. बस्तियों में किलेबन्दी का प्रादुर्भाव

गाँवों के परकोटे वाली बस्तियों में विकसित होने के काल को डेल्स के चरण E के अंतर्गत रखा गया है। मुंडीगाक से काल IV में एक परकोटे, एक प्रासाद व एक मंदिर के अवशेष मिले हैं। कोटदीजी की बस्ती भी परकोटे, से घिरी थी। इसमें बहुरंगी शैली का स्थान लाल सतह पर काले चित्रों वाले भांडों ने ले लिया। यद्यपि लिपि का प्रादुर्भाव अभी नहीं हुआ था तो भी मुंडीगाक काल IV में मृद्भांडों पर कुम्हारों के अपने विशिष्ट निशान बने मिलने लगते हैं। अब पूर्व कालीन ज्यामितिक डिजाइनों के स्थान पर नैसर्गिक व वक्र रेखीय डिजाइन अंकित होने लगे, जैसा कि दंबसदात काल III और मुंडीगाक IV में स्पष्ट हो जाता है। बुकरानियम डिजाइनों की प्राप्ति के आधार पर, निंदोवारी के कुल्ली स्तर, को नाल के परवर्ती कब्रगाही स्तर व मुंडीगाक काल IV को समसामयिक कहा जा सकता है। इसी प्रकार कुबड़े सांडों की लघुमूर्तियाँ, दंब सदात III, आम्री III, कोटदीजी I और नाल के परवर्ती कब्रगाही स्तरों के बीच सहसंबंध दर्शाती हैं। वैसे ये लघुमूर्तियाँ काल III से ही मिलने लगती हैं। कुल्ली संस्कृति का काल निर्धारण करना भी एक समस्या है। एक ओर गोर्डन व पिगट हड़प्पा व कुल्ली संस्कृति को समकालीन समझते हैं तो दूसरी ओर व्हीलर कुल्ली को पूर्ववर्ती और प्राग्हड़प्पा मानते हैं। पर अब कार्बन तिथियों ने अपना मत पिग्गट के पक्ष में देकर इस विवाद को समाप्त कर दिया है। निंदोवारी से, कुल्ली मृद्भांड के साथ बुकरेनियम चित्रित, नाल के प्रकार के इतर-बहुरंगी मृद्भांड मिले हैं। दूसरी ओर बहुत से मृद्भांडों के आकार व डिजाइन आम्री व नाल संस्कृतियों में एक से हैं। इन प्रमाणों से प्रतीत होता है कि नाल, आम्री और कुल्ली कम से कम कुछ समय के लिए समकालीन संस्कृतियाँ थीं।

घ. मिट्टी के कुटी-मॉडलों का तिथि निर्धारण में महत्व

अलंकरण की दृष्टि से इन कुटी-मॉडलों अथवा खानेदार पात्रों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। प्रथम वर्ग में, वक्र रेखीय व ज्यामितिक डिजाइन के खाने वाले माडल सिंध व बलूचिस्तान में मिलते। इनमें भी बलूचिस्तान के खानेदार पात्र गोल हैं तो सिंध के चौकोर व पसलीदार (Ribbed) हैं, और वे बने भी भिन्न पदार्थ के हैं। हाल में फारस की खाड़ी के उम्मअन-नार के सगीरा शवाधान (काल II) से ये पात्र मिले हैं। इस स्थल से प्राप्त कुल्ली के प्रकार के अवशेष इन दोनों संस्कृतियों के मध्य व्यापारिक संपर्क के द्योतक हैं। इस प्रमाण द्वारा पिग्गट के इस मत की पुष्टि होती है कि इन खानेदार पात्रों का मकरान से पश्चिम को निर्यात सुगंधित लेप भेजने के लिए हुआ करता था। द्वितीय वर्ग के पात्रों में वास्तुशिल्पीय या जीव-वनस्पति दृश्य अंकित हैं, तो तृतीय वर्ग में पौराणिक दृश्य। उपर्युक्त दोनों ही प्रकार के उदाहरण सिंध और बलूचिस्तान में नहीं मिलते।

प्राप्त कुटी-मॉडल—पात्रों की सूची

वर्ग	सिंध	बलूचिस्तान	द० पू० ईरान	एलाम और लुरिस्तान	मैसोपोटामिया	सीरिया
I	2	4	1	6	5	2
II	0	0	2	1 (सूसा)	5	1
III	0	0	0	0	6	6

ङ. समान सांस्कृतिक विशेषक और काल निर्धारण

दंब सदात II, नाल (बस्ती से), कुल्ली और मेही से लाजवर्द मिला है। भरगोल सिरे वाली ताम्र सुई का तिथि निर्धारण के लिए विशेष उपयोग नहीं है। इसी प्रकार इस चरण को चित्रित या उत्कीर्ण डिजाइनों वाली खोखली, मिट्टी की गेंदें बहुत से स्थलों में पायी जाती हैं।

मुंडीगाक IV और सिंधु घाटी के मध्य, काल-साम्य दर्शाने वाली अन्य वस्तुएँ हैं; पकी मिट्टी की चूहेदानियों और प्रस्तर-मुंड, मुंडीगाक IV के प्रस्तर निर्मित मानव-मुंड की तुलना मोहनजोदड़ो के HR क्षेत्र के, दक्षिण की गली

के AI मकान से, प्राप्त मूर्त्ति से की जा सकती है। इसके सिर पर बंधे फीतों, सफाचट मूंछों, दाढ़ी व कानों के निरूपण में स्पष्ट सादृश्य है।

मुंडीगाक और नाल जैसी धातु की खानेदार मोहरों के आधार पर चरण E का संबंध हिस्सार IIB काल से किया जा सकता है। पंजेनुमा हाथ वाली मुंडीगाक IV की मिट्टी की लघुमूर्ति, बाकुन A जैसी है। मृद्भांडों पर पशु चित्रण शैली की सगोत्रता सूसा D और उम्म-अन-नार से है। उत्कीर्ण डिजाइन वाले खानेदार पात्र या कुटी-माडल मेसोपोटामिया के "अर्ली-डायनैस्टी" (Early Dynasty) के प्यालों के सदृश है। पश्चिमी एशिया के उपर्युक्त संबंधों के आधार पर डेल्स के चरण E का काल 2700 से 2400 ई० पूर्व रखा जा सकता है।

अधिकांश सांस्कृतिक विशेषकों का पश्चिम में पहले पाया जाना इस बात का प्रमाण है कि पूर्व ने इन विशेषकों को पश्चिम से पाया। अतः इन सांस्कृतिक लक्षणों का कालानुक्रम अफगानिस्तान की अपेक्षा ईरान में, बलूचिस्तान की अपेक्षा मुंडीगाक के स्थलों में पूर्ववर्ती होगा। फलतः मेसोपोटामिया के किसी प्राचीन विशेषक की बलूचिस्तान में अपेक्षाकृत परवर्ती तिथि होगी। लेकिन सिंध से, व्यापार द्वारा, मेसोपोटामिया पहुँची वस्तुएँ दोनों देशों के बीच काल-साम्य दर्शाती हैं।

ख. इतर-हड़प्पा संस्कृतियों की कार्बन तिथियाँ

ऊपर हमने मुख्यतः पुरातात्त्विक प्रमाणों के आधार पर उपमहाद्वीप के उत्तर पश्चिम की इतर-हड़प्पा ताम्राश्मीय संस्कृतियों का कालानुक्रम निर्धारित करने का प्रयत्न किया। अब हम कार्बन तिथियों (तालिका—1 आरेख—8) के आधार पर इन इतर-हड़प्पा संस्कृतियों का काल निर्धारण करने का यत्न करेंगे।

सर्वप्रथम हम अपना सर्वेक्षण अफगानिस्तान की रेडियो कार्बन तिथियों से प्रारंभ करेंगे। देह मोरासी घुंडई की (संभवतः काल II की) मुंडीगाक काल III के समकक्ष केवल एक कार्बन तिथि P-1493, 2596±54 ई० पूर्व है जबकि मुंडीगाक से कई कार्बन तिथियाँ हैं मुंडीगाक की GSY—50,-51,-52, -53, कार्बन तिथियों के संदूषण के कारण हम उन पर विचार नहीं करेंगे। काल निर्धारण के लिए डेल्स ने इन स्थलों से पुनः नये नमूने एकत्र किये। जिनमें से हमने तीन नमूनों का काल निर्धारण किया है। सबसे प्रारंभिक नमूना

TF—1129, 3145±110 ई० पूर्व काल I का है, जिसमें एक मानक विचलन (Standard Deviation) त्रुटि जोड़ने से, मुंडीगाक की प्रथम तिथि लगभग 3250 ई० पूर्व निर्धारित की जा सकती है। C—815, 2807± 309 ई० पूर्व तिथि में त्रुटि बड़ी होने के कारण हम काल II के लिए मध्यवर्ती तिथि लगभग 2800 ई० पूर्व ही मानेंगे। TF—1131 नमूने की तिथि के अनुसार काल I का अंत लगभग 2800 ई० पूर्व हो गया। यदि P—1493, 2596±54 ई० पूर्व (मोरासी काल II) की भी गणना की जाय, तो मुंडीगाक काल III की तिथि लगभग 2600 ई० पूर्व निर्धारित होती है, क्योंकि मोरासी II और मुंडीगाक एक रूप संस्कृतियाँ थी। इसकी पुष्टि आम्री के—काल IC की तिथि TF—863, 2665±110 ई० पूर्व से होती है। उपर्युक्त तिथियों की आंतरिक संगति के आधार पर आम्री IB को लगभग 2800 ई० पूर्व रखा जा सकता है, TF—864, 2900 + 115 ई० पूर्व से एक मानक विचलन त्रुटि घटाने से यह तिथि निकलती है। दंब सदात काल I की कार्बन तिथि UW—59, 2510±70 ई० पूर्व है। 100 वर्ष के एक मानक विचलन को जोड़ दिया जाय तो इसकी तिथि लगभग 2600 ई० पूर्व निर्धारित होती है।

पुरातात्त्विक प्रमाणों के आधार पर अग्रवाल ने ढेल्स के चरण C की संस्कृतियों का काल निर्धारण लगभग 3300-3000 ई० पूर्व किया था, जिसकी पुष्टि अब कार्बन तिथि आधारित काल-विस्तार (लगभग 3200-2800 ई० पूर्व) द्वारा होती है। चरण D का काल जिसमें मुंडीगाक III (मुंडीगाक काल II को काल III का संक्रमण समझते हुए) और आम्री I आते हैं, लगभग 2800-2600 ई० पूर्व निर्धारित किया जा सकता है।

ढेल्स के चरण E के अंतर्गत प्राग्हड़प्पा ही नहीं बल्कि हड़प्पा की समकालीन संस्कृतियाँ भी शामिल की जा सकती हैं, क्योंकि ये नागरीकरण की देहलीज पर पहुँच चुकी थीं। इनमें से कुछ हड़प्पा की समकालीन ग्रामीण पूरक संस्कृतियाँ थीं।

कोटदीजी (सोथी) एक व्यापक संस्कृति थी, जिसके पूर्वी परिधीय क्षेत्र में कुछ परिवर्तन देखने को मिलता है। इसलिए समय की दृष्टि से केन्द्रीय हड़प्पा और परिधीय कोटदीजी समकालिक हुए। परन्तु हमारे विचार से यदि कोटदीजी हड़प्पा की समकालीन ग्रामीण संस्कृति थी तो इनके बीच कालिक व्यापन (Temparale overlap) पूरे क्षेत्र में होना स्वाभाविक ही है। यहाँ पर यह

प्राग्हड़प्पा व हड़प्पा संस्कृति स्थलों की कार्बन तिथियाँ

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई० पूर्व (अर्धायु 5730 वर्ष)	स्थल	कार्बन तिथियाँ ई० पूर्व (अर्धायु 5730 वर्ष)
आम्री (पाकिस्तान)	TF-863, 2665±100	गाली गाई (पाकिस्तान)	R-378a, 1923±55
	TF-864, 2900±115	मोहनजोदड़ो (पाकिस्तान)	PF-75, 1755±115
दंब सदात (पाकिस्तान)	UW-60, 2200±165		P-1182A 1865±65
	P-523, 2200±75		P-1176, 1965±60
	L-180E, 2200±360		P-1178A 1965±60
	L-180C, 2220±410		P-1180, 1995±65
	P-522, 2550±200		P-1179, 2085±65
	L-180B, 2320±360		P-1177, 2155±65
	UW-59, 2510±70	कालीबंगन काल II (राजस्थान)	TF-143, 1665±110
कोटदीजी (पाकिस्तान)	P-195, 2100±140		TF-946, 1765±105
	P-180, 2250±140		TF-149, 1830±145
	P-179, 2330±155		TF-150, 1900±105
	P-196, 2600±145		TF-605, 1975±110
निआई बूथी (पाकिस्तान)	P-478, 1900±65		P-481, 2050± 75
मुंडीगाक (अफ़गानिस्तान)	TF-1129, 3145±110		TF-153, 2075±110
	TF-1132, 2995±105		TF-25, 2090±115
	TF-1131, 2755±105		TF-942, 2225±115
निंदोवारी दांब (पाकिस्तान)	TF-862, 2065±110		TF-152, 1770±90
कालीबंगन काल I (राजस्थान)	TF-154, 1820±115		TF-142, 1790±105
	TF-156, 1900±110		TF-141, 1860±115
	TF-165, 1965±105		TF-139, 1930±105
	TT-161, 2095±105		TF-151, 1960±105
	TF-240, 1765±115		TF-948, 1980±100
	TF-162, 2105±105		TF-147, 2030±105
	TF-241, 2255±95		TF-145, 2060±105
	TF-157, 2290±120		TF-608, 2075±110
	TF-155, 2370±120		TF 947, 1925±90
			TF-163, 2080±105
			TF-607, 2090±125
			TF-160, 2230±105

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई० पूर्व (अर्धायु 57-30 वर्ष)	स्थल	कार्बन तिथियाँ ई० पूर्व (अर्धायु 57-30 वर्ष)
लोथल (गुजरात)	TF-19, 1800±140 TF-23, 1865±110 TF-29, 1895±115 TF-26, 2000±125 TF-27, 2000±115 TF-22, 2010±115 TF-133, 1895±115 TF-136, 2080±135	सुरकोटडा (गुजरात)	TF-1301,2000±135 TF-1305,2055±100 TF-1310,1970±100 TF-1295,1940±100 TF-1294,1780±100 TF-1297,1790±95 TF-1307,1660±110 TF-1311,1780±90
रोजडी (गुजरात)	TF-199, 1745±105 TF-200, 1970±115	बाड़ा (पंजाब)	TF-1204,1845±155 TF-1205,1890±95 TF-1207,1645±90

तालिका 1 : प्राग्हड़प्पा व अन्य हड़प्पा सांस्कृतिक स्थलों की कार्बन तिथियाँ।

स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपर्युक्त विश्लेषण का अर्थ यह नहीं कि कोटदीजी संस्कृति का हड़प्पा संस्कृति से पहले प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।

चरण E की संस्कृतियों, उदाहरणार्थ दंबसदात II और III, कोटदीजी I, और कालीबंगन काल I की कार्बन-तिथियाँ उपलब्ध हैं। जिनके अनुसार कोटदीजी का प्रारंभ लगभग 2600 ई० पूर्व (P-196) और अन्त 2100 से 2000 ई० पूर्व (P-195) के मध्य है। अधिकांश से कार्बन तिथियों (L-180B, L-180E और P-523) के अनुसार दंबसदात काल II का काल 2200 ई० पूर्व निर्धारित होता है। दंबसदात काल III की कार्बन तिथि UW-60, 2200±165 ई० पूर्व है, काल II की तीनों ही तिथियां अनुरूप होने के कारण, हम काल III को उच्चतम प्राप्त तिथि में से 100 वर्ष का मानक विचलन हटाने पर, इसका काल लगभग 2050 ई० पूर्व निर्धारित करेंगे (देखें तालिका 1)।

कार्बन नमूने जितने ही अधिक गहराई तक टीले की मिट्टी से ढके होते हैं उतने ही विदूषण से बचे रहते हैं। कालीबंगन टीले की मिट्टी से ढके हुए, कई नमूनों की कार्बन तिथियां प्राप्त हैं। कालीबंगन काल I की नौ तिथियाँ ज्ञात हैं। टीले की परिधि से प्राप्त नमूनों की तिथियाँ अपेक्षाकृत नयी है जिसका कारण विदूषण हो सकता है। इसके विपरीत मिट्टी से अच्छी तरह ढके नमूनों की तिथियाँ विश्वसनीय होती हैं। इन विदूषण-जनित समस्याओं के कारण यह

निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि काल I कब समाप्त हुआ, और काल II कब प्रारंभ हुआ। यदि टीले I के नमूने विदूषण रहित थे तो उत्तरकालीन कालीबंगन काल I की तिथि लगभग 1800-1900 ई० पूर्व (TF 154,-156,-165) है। जैसे पहले भी बताया गया है, घोष के कथनानुसार कालीबंगन से हड़प्पा काल और काल I के मृद्भांड, काल I के मकानों में भी मिले हैं। काल I के प्रारंभिक चरणों की तीन तिथियाँ हैं—TF-155, 2370±120,-157, 2290±120 और-241, 2255±95। क्योंकि तीनों ही नमूने प्रारंभिक चरण के हैं अतः विभिन्न तिथियों से औसत तिथि 2295±65 ई० पूर्व आती है। इसमें एक मानक विचलन की त्रुटि जोड़ने से यह तिथि 2360 ई० पूर्व अर्थात् लगभग 2400 ई० पूर्व बैठती है। इस प्रकार कार्बन पद्धति द्वारा कालीबंगन का प्राग्हड़प्पा संस्कृति का अधिकतम काल लगभग 2400-1800 ई० पूर्व व निम्नतम काल लगभग 2300-2000 ई० पूर्व इंगित होता है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर हड़प्पा से पूर्ववर्ती चरण E का काल लगभग 2600–2400 ई० पूर्व होता है जबकि चरण E की अन्य संस्कृतियाँ (हड़प्पा की समकालीन) बहुत बाद तक जीवित रहीं। उदाहरणार्थ पंजाब के बाड़ा मृद्भांडों पर उत्कीर्ण डिजाइन (कंठ पर की काली चौड़ी पट्टी) की सगोत्रता कालीबंगन काल I से होते हुए भी बाड़ा की तिथि TF–1204-1205 के अनुसार 1800–1900 ई० पूर्व है। इन कार्बन तिथियों से भी प्रतीत होता है कि तथाकथित प्राग्हड़प्पा और हड़प्पा समकालीन संस्कृतियां थीं।

निमाई बूथी और निंदोवारी दंब से प्राप्त दो तिथियों P–478, 1900±65 और TE 862, 2065±110 ई० पूर्व के अनुसार कुल्ली संस्कृति का काल लगभग 2000 ई० पूर्व निश्चित होता है। उपर्युक्त तिथियों और फारस की खाड़ी के स्थलों से मिले पुरातात्त्विक प्रमाणों के आधार पर इसे निश्चयपूर्वक हड़प्पा की समकालीन संस्कृति कहा जा सकता है।

III. हड़प्पा संस्कृति का कालानुक्रम

क. पुरातात्त्विक प्रमाण

प्राप्त प्रमाणों के तार्किक विश्लेषण के आधार पर सर्वप्रथम व्हीलर ने हड़प्पा संस्कृति का काल-विस्तार लगभग 2500 से 1500 ई० पूर्व निर्धारित किया था। यह सहस्राब्दी विस्तार इतना अधिक प्रचलित हो गया कि छोटे-छोटे

हड़प्पा संस्कृति के स्थलों के लिए भी प्रयुक्त किया जाने लगा। कुछ विशिष्ट हड़प्पा मृद्भांड-आकार (आरेख 6) में दिये गये हैं।

कई विद्वानों ने हड़प्पा संस्कृति के एक सहस्र वर्ष के प्रति विस्तृत काल विस्तार पर शंकाएं व्यक्त की हैं। फेयरसर्विस के मतानुसार केवल निक्षेपों की गहराई से उनके काल-विस्तार का सही आभास नहीं होता। बाढ़ जनित विनाश और भवनों का पुनर्निर्माण 25 वर्ष में भी हो सकता है और 250 वर्ष में भी। इस दृष्टि से सिंध के बहुत से प्राचीन ग्राम स्थलों के हड़प्पा स्तरों का परीक्षण करने पर उन्हें मालूम हुआ कि कोटदीजी, डाबरकोट और आम्री जैसे स्थलों की अपेक्षा इनकी हड़प्पा-बस्तियों का काल विस्तार बहुत संक्षिप्त था। इन सब कारणों से वे इस प्रचलित मत को स्वीकार नहीं करते कि सिंध में हड़प्पा संस्कृति का काल विस्तार एक सहस्र वर्ष था। उनका विचार है कि यह लगभग 500 वर्ष रहा होगा।

एक सहस्राब्दी के विस्तृत काल में भी हड़प्पा संस्कृति की निरंतर समरसता और अपरिवर्तनशीलता पर कई विद्वानों ने शंका की है। विशेष रूप से उन लोगों ने जो पुरातात्त्विक स्वयंसिद्ध नियमों से प्रतिबंधित नहीं हैं। मोहनजोदड़ो के केवल गहरे (पर मुख्यतः अवशेष रहित) निक्षेप के आधार पर इस संस्कृति का इतना लंबा काल विस्तार निर्धारित किया गया है उसकी प्रामाणिकता पर राइक्स संदेह करते हैं। उनका कथन है कि ये अजीब बात है कि पुरातत्ववेत्ताओं के अनुमानानुसार इस शहर के एक सहस्र वर्ष की आबादी के दौरान केवल 10 मीटर निक्षेप एकत्र हुआ, जबकि बाद के 3500 वर्ष में अतिरिक्त गाद एकत्र ही नहीं हुई। उनका कहना है कि कहीं भी इतिहास में 1000 वर्ष तक भौतिक संस्कृति बदले बिना नहीं रही। इसलिए वे एक छोटे काल-विस्तार को अधिक तर्क संगत मानते हैं।

कार्बन तिथियों ने इन शंकाओं को पुष्ट किया है। अग्रवाल ने भी पुरातात्त्विक आधारभूत सामग्री का मूल्यांकन व कार्बन तिथियों के आधार पर निश्चयात्मक रूप से इस संस्कृति का संक्षिप्त काल विस्तार प्रतिपादित किया है। यहाँ पर हम पहले पुरातात्त्विक प्रमाणों की विवेचना करेंगे।

प्राप्त पुरातात्त्विक प्रमाणों के संबंध में दो महत्वपूर्ण अनिश्चितताएँ ध्यान में रखनी होंगी : (i) अधिकांश पुरातात्त्विक प्रमाण उस काल के हैं जब उत्खनन और स्तरन का वैज्ञानिक तरीका प्रयुक्त नहीं होता था; और (ii) हड़प्पा संस्कृति के काल निर्धारण के लिए भारतीय सी लगने वाली सामान्य वस्तुओं का भी (जो पश्चिम में पायी गयी) उपयोग किया गया। इसलिए हम

हड़प्पा से संबंधित केवल उन प्रमाणों का विश्लेषण करेंगे, जो विशिष्ट रूप से हड़प्पा संस्कृति के हैं अथवा पश्चिमी एशियाई निश्चित तिथियों के शिल्प उपकरणों का, जो भारत के विश्वसनीय उत्खननों से मिले हैं।

हम कालानुक्रम का सारगन-पूर्व (लगभग 2350 ई० पूर्व) ईसीन-लार्सा (लगभग 2000 ई० पूर्व) और उत्तर-लार्सा वर्गों के अंतर्गत अध्ययन करेंगे। यहां पर मोहरों की विशिष्ट संख्याएँ गैंड के निबंध "उरसे प्राप्त प्राचीन भारतीय शैली की मोहरें" और व्हीलर की पुस्तक "सिंधु सभ्यता" के अनुसार दी गयी हैं।

ख. सारगन—पूर्व कालिक प्रमाण

(i) मोहरें

एक अ-स्तरीय चौकोर मोहर (गैड नं० 1) मिली है जिसके पृष्ठ पर बनी घुण्डी के आधार पर ही इसे सिन्धु सभ्यता की समझ लिया गया। इसमें सांड जैसे जानवर के ऊपर तीन सारगन-पूर्व कालिक चिह्न अंकित है। गैंड ने स्वयं स्वीकार किया है कि केवल फानाकार लिपि के पुरालेखों के आधार पर किसी वस्तु का, विशेषकर मोहरों का, कालानुक्रम निर्धारित करना बहुत गलत हो सकता है। अतः कालनिर्धारण की दृष्टि से उपर्युक्त मोहर का महत्व कुछ भी नहीं है।

एक कब्र के कूपक से एक सेलखड़ी की मोहर (गैड नं० 16) मिली है जिस पर सिन्धु लिपि और सांड अंकित है। वूली के अनुसार यह उर के द्वितीय राजवंश (II Dynasty) की है, जब कि फ्रैंकफर्ट इस द्वितीय राजवंश को भी अक्काड (सारगन) काल के अंतर्गत ही लेते हैं। वूली ने भी बाद में शंका व्यक्त की कि यह निश्चय करना कठिन है कि यह मोहर कब्र विशेष की है या बाद की लड़ाईयों के काल की, जब बाद का मलवा कब्र के कूपक में भर गया। इस प्रकार यह मोहर सारगन काल की भी हो सकती है। वस्तुतः इस मोहर से केवल यह ज्ञात होता है कि सिन्धु का संपर्क सारगन काल के ईराक से रहा होगा।

(ii) कूबड़ वाले सांड का अंकन

कूबड़ वाले सांड का अंकन सर्वप्रथम लगभग 3100 ई० पूर्व के दियाला क्षेत्र से प्राप्त सिंदूरी मृद्भांड (Scarlet-ware) पर व मुंडीगाक काल I_3 से

मिलता है। चौथी सहस्त्राब्दी के अंतिम काल तक ये डिजाइन पश्चिम एशिया के कई स्थलों में प्रचलित थे लेकिन प्राग्हड़प्पा काल में ये डिजाइन नहीं मिलते। जब तक कि हड़प्पा संस्कृति की स्पष्ट छाप इन वस्तुओं पर नजर नहीं आती, ऐसी अस्पष्ट समानताओं का तिथि-निर्धारण में कोई महत्व नहीं माना जा सकता। मेसोपोटामिया से प्राप्त लगभग 2700-2500 ई० पूर्व के कटोरे पर अंकित एक पौराणिक दृश्य के साथ कूबड़ वाले सांड का चित्रण है। मैलोवन के मतानुसार यह भारतीय है, जब कि उसमें कोई भी भारतीय अथवा हड़प्पा जैसी विशिष्टता नहीं है। फलस्वरूप तिथि निर्धारण की दृष्टि से इसका कोई महत्व नहीं है।

(iii) खानेदार प्रस्तर पात्र (या कुटी-भाजल)

चक्रवर्ती ने ड्यूरिंग कैस्पर की उस रिपोर्ट को अनावश्यक महत्व दिया है जिसमें डाबरकोट से प्राप्त एक कुरूप प्रस्तर सिर का उल्लेख किया गया है। कैस्पर ने स्वयं स्वीकार किया है कि इस सिर का अनगढ़ शिल्प इस बात का द्योतक है कि यह मेसोपोटामिया के नमूने की कोई बाद में की गयी नकल है।

प्रस्तर पात्रों के वर्गीकरण व विभाजन के विषय में (पृष्ठ) लिखा जा चुका है। मोहनजोदड़ो से भी इनके नमूने प्राप्त हुए हैं।

(अ) D क्षेत्र के मकान नं० V, कमरा नं० 53 से 8.7 मीटर की गहराई से, चटाई के प्रकार के डिजाइन वाला एक प्रस्तर पात्र का टुकड़ा मिला है।

(ब) मकान नं० III कमरा नं० 76 से 1.5 मीटर की गहराई से प्राप्त उत्तर कालीन चरण के पात्र पर रेखाच्छादित त्रिकोण व त्रि-भरी Chevron) डिजाइन बने हैं। इन पात्रों की, इनके एशियाई प्रतिरूपों से तुलना करने पर, दुर्रानी का पूर्व उद्धरित मत, यहाँ पुन: उल्लेखित करना उचित होगा कि "ये खानेदार पात्र बलूचिस्तान और सिंध में ही सीमित हैं, ऐसे पात्र भारत-पाक प्रदेश से बाहर नहीं मिलते"। इनमें भी बलूचिस्तान के पात्र सेलखड़ी के बने गोल हैं तो, सिंधु के स्लेट निर्मित चौकोर व ढक्कन वाले।

मोहनजोदड़ो के प्रारंभिक स्तर से प्राप्त चटाईदार डिजाइन वाले एक टुकड़े की बहुत निकट साम्यता किश व सूसा D से है। मैलोवन के अनुसार इसका काल लगभग 2500 ई० पूर्व समझा जाता है। फारस की खाड़ी के स्थलों से प्राप्त कुल्ली मृद्भांड व खानेदार पात्र इस बात का द्योतक है कि संभवत: कुल्ली वासियों ने ही हड़प्पा और मेसोपोटामिया के मध्य, व्यापारिक संपर्क स्थापित किया हो।

(iv) स्वस्तिक डिजाइन

आक के टीले से प्राप्त मोहरों पर लोथल जैसी बहु-रेखीय स्वस्तिक डिजाइनों के आधार पर राव का मत है कि लोथल का संपर्क, अक्काड काल में विदेशों से था। आक के टीले से ऐसे डिजाइन वाले तावीजों के अग्रभाग पर जानवर अंकित है, जिनका काल मैलावन के अनुसार लगभग 3200 ई० पूर्व है। ऐसे सामान्य डिजाइनों का सादृश्य का कालानुक्रम निर्धारण में कोई महत्व नहीं।

उपर्युक्त अस्पष्ट व अनिश्चित प्रमाणों के आधार पर हड़प्पा का काल सारगन पूर्व काल के समकक्ष नहीं रखा जा सकता।

ग. सारगन और ईसीन-लार्सा काल के प्रमाण

(i) मोहरें

सेलखड़ी की एक गोलाकार मोहर (गैड नं० 15) पर अस्पष्ट सा एक लेख है और वाम शीर्ष पर एक फूल और एक बिच्छू अंकित हैं। इस मोहर का लेख सिन्धु लिपि में नहीं है। यदि इसे हड़प्पा संस्कृति की मोहर मान भी लिया जाय तो भी यह सारगन काल की ही कही जा सकती है। केवल पूर्व-उल्लेखित गैड मोहर नं० 16 सारगन काल की है।

किश से प्राप्त एक चौकोर मोहर (व्हीलर नं० 4) निश्चय रूप से सिंधु सभ्यता की है। लैंगडन के मतानुसार यद्यपि इसे सारगन-पूर्व काल की होना चाहिए, लेकिन इसके साथ पत्थर की एक मूठ मिली है जिस पर सैंधव लिपि में लेख अंकित है। संभवतः दोनों ही वस्तुएँ बाद को गिरी होंगी। अतः इनसे केवल सारगन कालीन प्रमाणों की ही पुष्टि होती है।

एक बेलनाकार चमकीली सेलखड़ी की (व्हीलर नं० 5) मोहर टेल-असमार से अक्काड कालीन संदर्भ में मिली है। इस पर हाथी, दरयाई घोड़ा और मगर नैसर्गिक शैली में अंकित हैं। उपर्युक्त पशु बेबीलोन में नहीं होते। अतः इन्हें अंकित करने से पूर्व कलाकार ने इन्हें निकट से देखा होगा (शायद सिन्ध में)। टेल असमार के ही अक्काड-स्तर से एक और मोहर एलाबास्टर की मिली है जिस पर संकेन्द्रित वर्ग अंकित हैं।

स्पाईजर के मतानुसार टेपे गावरा VI से प्राप्त संकेन्द्रिय वर्गों से अलंकृत एक चौकोर पकी हुई मिट्टी की मोहर (व्हीलर नं० 7), उत्तरकालीन प्रारंभिक राजवंशों (Early Dynasty) की या प्रारंभिक सारगन काल की है। मेके ने इसे अस्पष्ट सी तिथि दी है, क्योंकि यह समसु-ईलूना के फर्श के नीचे पड़ी मिली, इसलिए इसकी तिथि लगभग 1700 ई० पूर्व से बाद की नहीं हो सकती।

हड़प्पा तथा मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक पर मोहर पंख फैलाये उकाब अंकित है। ऐसे चित्र लगभग 2400 ई० पूर्व सूसा से मिलते हैं। मैलोवन ने पंख फैलाये उकाब के रूप में ईमदुगू (लगभग 2200 ई० पूर्व की मूर्ति) तथा इसी रूप की टैल ब्राक से प्राप्त लगभग 2100 ई० पूर्व की ताम्रजटित मूर्ति का वर्णन किया है।

राव को लोथल के टीले की सतह से (खुदाई से नहीं) सेलखड़ी की एक मोहर मिली है जिसके एक ओर घुंडीदार पीठ और दूसरी तरफ दो हिरन अंकित हैं।

यह मोहर बारबारा और रास-अल-कला से प्राप्त फारस की खाड़ी मोहरों" जैसी है। बिब्बी के मतानुसार ऐसी ही मोहरें कुवैत के समीप फैलका से मिली, जिन्हें उन्होंने सारगन का काल दिया है। अतः संभावना यही है कि यह मोहर लोथल की हड़प्पा संस्कृति की आबादी के समय में ही विदेश से यहां आयात हुई होगी। बूखानन ने लार्सा के राजा गुनगुनुम के दसवें वर्ष (लगभग 1923 ई० पूर्व) की एक फानाकार लिपि में अंकित तख्ती का वर्णन किया है जिस पर "फारस की खाड़ी की मोहर" उत्कीर्ण है। उनके कथानुसार सिंध के दूसरे हड़प्पा कालीन आयात, इस तिथि से पहले के बिलकुल नहीं थे।

तेल्लोह से मिली सिंधु लिपि वाली मोहर व्हीलर नं० 9 लार्सा कालीन है। लार्सा कालीन एक कब्र से प्राप्त एक बेलनाकार मोहर (गैड़ नं० 5) पर एक कूबड़ वाला सांड, मानवाकृति, सांप व बिच्छू अंकित हैं। शैली की दृष्टि से इसे हड़प्पा शिल्पकारिता की संज्ञा दी जा सकती है। हामा से मिली एक अन्य बेलनाकार मोहर के ठीकरे (व्हीलर नं० 12) पर कुल्ली प्रकार की बड़ी आंखों वाले सांड (लगभग 2000-1700 ई० पूर्व) का चित्र बना है।

(ii) **मनके**

हड़प्पा और मेसोपोटामिया से प्राप्त 8 व "आंख" प्रकार के (प्रकार I) निक्षारित मनको में तादात्मयता है। फ्रैंकफोर्ट के अनुसार हड़प्पा कालीन संपर्क दर्शाने वाली अन्य वस्तुओं के साथ सारगन काल के ऐसे ही मनके टेल अस्मार के मकानों में मिले हैं। यदि यह नहीं भी माना जाय कि ये हड़प्पा से यहाँ पहुँचे, तो भी इतना तो माना ही जा सकता है कि सारगन काल में इन स्थलों में परस्पर व्यापारिक संबंध थे। प्रारंभिक राजवंश (Early Dynasty) या अक्काड काल और ट्रोय II G से प्राप्त अक्षीय नलिका वाले चक्र-मनकों की तिथि लगभग 2500-2300 ई० पूर्व है। टेल अस्मार के सारगान स्तर से प्राप्त चांदी

के चक्र मनके भी इनके समतुल्य हैं। अस्मार के टीले के सारगन स्तर से वृषक आकार में हड्डी जटित मनकों की सगोत्रता निस्संदेह हड़प्पा के कटे शंख के बने मनकों से है।

लाजवर्द के प्राचीन व्यापार के उतार-चढ़ाव पर व्हीलर का मत है कि सिंधु सभ्यता का अधिकांश ज्ञात स्तर प्रारंभिक राजवंश (Early Dynasty) की अपेक्षा अक्काड और परवर्ती अक्काड काल के हैं।

घ. परवर्त्ती लार्सा कालिक प्रमाण

(i) मोहरें

उर के कस्साईट स्तर के मलवे से प्राप्त लगभग 1500 ई० पूर्व की घुंडीदार पीठ वाली (गैड नं० 5) मोहर पर, बहंगी लटके दो मशक लिए पनभरा चित्रित है। घुंडी के अतिरिक्त हड़प्पा मोहर से इसका कोई साम्य नहीं। फलतः तिथि निर्धारण की दृष्टि से मोहर का कोई महत्व नहीं है।

(ii) मनके

हड़प्पा से एक अस्तरित खानेदार मनका मिला है। इसके स्पेक्ट्रमी विश्लेषण से ज्ञात हुआ कि इसकी साम्यता मध्य मिनोअन काल III के नमूने से है। ये मनके मिस्र के अट्ठारहवें राजवंश काल में लगभग 1600 ई० पूर्व प्रचलित थे। दूसरी ओर खाबुर घाटी से लगभग 3200 ई० पूर्व के भी चमकदार सेलखड़ी के खानेदार मनके मिले हैं। अतः इस प्रकार के अनिश्चित व अस्पष्ट प्रमाण तिथि निर्धारण के आधार नहीं हो सकते।

(iii) धातु उपकरण

हड़प्पा संस्कृति के अंतिम काल में कुछ धातु उपकरण प्रचलित थे। इनके पश्चिमी एशियाई प्रतिरूप, विविध व अनिश्चित कालानुक्रमिक संदर्भों में मिलते हैं। इसलिए पिग्गट ने कहा है कि "जब तक उनका स्वतंत्र रूप से स्थानीय मूल्यांकन नहीं हो जाता, उनका तिथि निर्धारण में महत्व संदिग्ध है। इस प्रदेश में अनेक बाह्य आक्रमणों व देशांतरणों के फलस्वरूप यह समस्या और भी जटिल हो गई है। पिग्गट कहते हैं कि लगभग 2000 ई० पूर्व व कुछ सदियों तक बलूचिस्तान के ग्रामों व सैंधव नगरों के अंत काल के समय में जनसमूहों का देशांतरण होता रहा। दूसरे देशांतरण या उपनिवेशीकरण के प्रमाण एक

सहस्र वर्ष बाद बलूचिस्तान से मिलते हैं। उदाहरणार्थ 2000 ई० पूर्व के देशांतरण को शाही टुंप की कब्रों से जोड़ा जा सकता है, और दूसरे प्रवाह को 900 ई० पूर्व के संगोरा समाधानों से।

ङ. सारांश

मेसोपोटामिया के प्रमाणों का सिंहावलोकन करते हुए बूखानन ने कहा है कि प्रौढ़ सिंधु सभ्यता की तिथि लगभग 2300 ई० पूर्व से प्राचीन नहीं हो सकती। इराक से इसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। उन्होंने इस प्रौढ़ चरण की अवधि 300 साल से अधिक होने की संभावनाओं पर शंका व्यक्त की है। उनके अनुसार यह संभव है कि सिंधु सभ्यता का प्रौढ़ चरण 2000 ई० पूर्व तक समाप्त हो गया।

उपर्युक्त कालानुक्रमिक महत्व के पुरातात्विक प्रमाणों के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि सिंधु सभ्यता का पश्चिम एशिया से निश्चित संपर्क केवल सारगन काल (लगभग 2350 ई० पूर्व) और ईसीन लार्सा काल (लगभग 2000 ई० पूर्व) से था। इस आधार पर हड़प्पा संस्कृति के प्रारंभ की निम्न सीमा लगभग 2350 ई० पूर्व इंगित होती है।

च. हड़प्पा संस्कृति की कार्बन तिथियाँ

1947 के भारत विभाजन के बाद हड़प्पा संस्कृति के स्थल पाकिस्तान के अंतर्गत चले गये। लेकिन बाद के भारतीय पुराविदों ने इस संस्कृति के कई स्थलों को भारत में खोज निकाला। लाल व थापड़ द्वारा कालीबंगन, राव द्वारा लोथल व ढाकी द्वारा रोजडी के उत्खनन महत्वपूर्ण हैं। इन विस्तृत उत्खानों के फलस्वरूप काफी मात्रा में कार्बन नमूने प्राप्त हुए। अब डेल्स द्वारा मोहनजोदड़ो के उत्खनन से प्राप्त (तालिका 1—आरेख 8) नमूनों पर भी कई कार्बन तिथियाँ मापी गयी हैं। 1964 तक प्राप्त तिथियों के आधार पर अग्रवाल ने हड़प्पा संस्कृति के कालाक्रमीय विस्तार की सीमा संक्षिप्त कर लगभग 2300-1750 ई० पूर्व के बीच बांधी थी। साथ में पुरातात्विक प्रमाणों का पुनः विश्लेषण कर हड़प्पा संस्कृति का पश्चिमी एशिया से संपर्क लगभग 2300 से 2000 ई० पूर्व के बीच निश्चित किया था। इस पर व्हीलर ने भी शुरू में स्वीकार किया था कि उनका प्रस्तावित काल-विस्तार (2500-1500 ई० पूर्व) दोनों ही सिरों से शायद थोड़ा-थोड़ा घटाना पड़े।

अब हम काल-विस्तार के अब तक के प्रमाणों की फिर से संक्षिप्त विवेचना करेंगे।

पाकिस्तान के हड़प्पा संस्कृति के प्रारंभिक काल के नमूने प्राप्त न होने के कारण प्राग्हड़प्पा स्थलों की तिथियों के आधार पर ही, इस संस्कृति के प्रारंभ का तिथि-निर्धारण करना पड़ता है। मोहनजोदड़ो के ऊपरी स्तरों से अब सात तिथियां (तालिका 1, आरेख 8) प्राप्त हैं। पहली तिथि मोहनजोदड़ो के पुराने उत्खनन से प्राप्त झुलसे हुए गेहूं (TF-75) पर मापी गयी है। अन्य छः तिथियां हाल ही में डेल्स द्वारा ऊपरी स्तरों के उत्खनन से प्राप्त नमूनों पर की गयी है। ये सब तिथियां एक मानक विचलन के अंतर्गत एक सी हैं। इन सब तिथियों (P-1176,-1177,-1178 A,-1179,-1180 और 1182 A) की त्रुटियों को संयुक्त कर मोहनजोदड़ो के ऊपरी स्तर की तिथि 2005±25 ई० पूर्व अर्थात् लगभग 2000 ई पूर्व निर्धारित की जा सकती है।

(i) हड़प्पा संस्कृति का केन्द्रीय क्षेत्र

हड़प्पा संस्कृति के केन्द्रीय क्षेत्र की प्रारंभिक तिथि दंबसदात और कोटदीजी के ठीक पूर्ववर्ती स्थलों की कार्बन तिथियों के बहिर्वेशन (Extrapolation) से निश्चित की जा सकती है। दंबसदात II की तीन तिथियां L-180 C, L-180 E, P-523 हैं। उनकी बड़ी त्रुटियों को दृष्टि में रखते हुए, वे परस्पर सुसंगत हैं। अन्य तिथियों की अपेक्षा P-523, 2200±75 ई० पूर्व की तिथि में न्यूनतम त्रुटि है। इनमें एक मानक विचलन जोड़ने से इसे लगभग 2300 (2275) ई० पूर्व रखा जा सकता है। इस प्रकार दंबसदात II, हड़प्पा संस्कृति के प्रारंभ की पूर्वकाल सीमा निश्चित करता है। कोटदीजी के काल I के ऊपरी स्तरों की तिथि P-195, 2100±140 ई० पूर्व है। और एक मानक विचलन के अंतर्गत कोटदीजी के अंत की तिथि 2240 से 1960 ई० पूर्व के मध्य स्थिर की जा सकती है। इस आधार पर हड़प्पा संस्कृति का आरंभ मोहनजोदड़ो में लगभग 2300 ई० पूर्व निर्धारित कर सकते है। मोहनजोदड़ो की संपूर्ण तिथि-सीमा इस प्रकार लगभग 2300-2000 ई० पूर्व निश्चित होती है।

बिना त्रुटियों को सम्मिलित किये अधिकांश तथाकथित प्राग्हड़प्पा संस्कृतियों के उत्तरकालीन स्तरों की कार्बन तिथियां, लगभग 2100 ई० पूर्व से पूर्ववर्ती नहीं हैं। यदि भविष्य में इनमें से कुछ स्थलों की समकालीनता सिद्ध हो जाती हैं, तो हड़प्पा के प्रारंभ की संभावना लगभग 2300 ई० पूर्व से पूर्ववर्ती हो सकती है। जब तक हड़प्पा व मोहनजोदड़ो के प्रारंभिक स्तरों का तिथि-निर्धारण नहीं होता, कोई भी हड़प्पा संस्कृति के केन्द्रीय स्थलों की तिथि केवल अनुमान मात्र ही समझी जा सकती है।

(ii) हड़प्पा संस्कृति का परिधीय क्षेत्र

हड़प्पा संस्कृति के परिधीय क्षेत्र गुजरात और राजस्थान हैं। इस क्षेत्र से लोथल, रोजडी और कालीबंगन का तिथि-निर्धारण किया जा चुका है। थापड़ व लाल द्वारा उत्खनित, कालीबंगन के न केवल अनेक कार्बन नमूनों का मापन किया गया, बल्कि नमूनों के दूषण से बचाने में टीले की आच्छादित मिट्टी का क्या श्रेय है, इसका भी विस्तृत अध्ययन किया गया। इन अध्ययनों से ज्ञात हुआ कि इन प्राचीन संस्कृतियों के नमूनों को जितनी अधिक मिट्टी ने आच्छादित रखा, वे उतने ही अधिक दूषण से बचे रहे, क्योंकि गले हुए पौधों से रिसने वाला ह्यूमिक अम्ल टीले की परतों के अंदर प्रवेश कर, कार्बनिक नमूनों को संसिक्त कर देता है और उन्हें तथा उनके तिथि निर्धारण को संदेहास्पद बना देता है। मिट्टी छन्ने का कार्य करती है। इस प्रकार नमूना जितनी गहराई में होगा, उतना ही इस दूषण से सुरक्षित रहेगा। टीले के परिधीय व ऊपरी भाग से प्राप्त नमूने (TF-138,-244) इसी कारण काफी बाद की कम तिथियां देते हैं। नमूनों के जीर्ण और छोटे होने के फलस्वरूप ह्यूमिक अम्ल को साफ करने के लिए कई नमूनों पर क्षार का प्रयोग भी नहीं हो सका। इसके विपरीत टीले की गहराई से प्राप्त TF-607,-608 की तिथियां पर्याप्त सुसंगत हैं, और उनसे आशानुकूल पुरानी तिथियां मिली हैं।

कालीबंगन के टीले II के प्रारंभिक स्तरों की दो कार्बन तिथियां TF-607, 2090±125 ई० पूर्व और TF-608, 2075±110 ई० पूर्व हैं। एक मानक-विचलन त्रुटि को इन तिथियों के औसत के साथ जोड़ देने पर, हड़प्पा संस्कृति के प्रारंभ की उच्चतम तिथि लगभग 2200 ई० पूर्व आती है। एक और तिथि भी TF-160, लगभग 2200 ई० पूर्व है। मध्यवर्ती स्तरों की तिथियां भी सुसंगत हैं, जबकि ऊपरी स्तरों के नमूनों के परिणामों में विभिन्नता है। सतह के बहुत समीप, (सबसे ऊपरी परत से) मिलने के कारण दूषित दो नमूनों TF-138 और TF-244 की गणना करना निरर्थक है। निचले व मध्यवर्ती स्तरों से प्राप्त कार्बन तिथियाँ होने के कारण हमने TF143,-946 और -149 नमूनों को ऊपरी स्तरों की प्रतिनिधि तिथियां माना है। इसके आधार पर कालीबंगन में हड़प्पा संस्कृति के अंत की तिथि लगभग 1700-1800 ई० पूर्व कही जा सकती है। ह्यूमिक दूषण और बड़ी त्रुटियों के फलस्वरूप इन स्थलों में कार्बन पद्धति इतनी अधिक कारगर नहीं हो पाती। इसी प्रकार लोथल में हड़प्पा संस्कृति के अंत की तिथि चरण VA से प्राप्त

TF-23, 1865±110 और TF-19, 1800±140 ई० पूर्व के आधार पर लगभग 1800 ई० पूर्व है जबकि अल्चिन के मतानुसार लोथल में इस संस्कृति का अंतिम चरण IVA है। चरण V को वे उप हड़प्पा काल कहते हैं, जिसमें "आंशिक औपनिवेशिक शासन का अंत तथा एक स्वतंत्र प्रांतीय (क्षेत्रीय) संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ।" लोथल काल I से प्राप्त केवल एक तिथि TF-136, 2080±135 में एक मानक विचलन जोड़ने से इसका काल लगभग 2200 ई० पूर्व निर्धारित किया जा सकता है। यदि चरण V को उप-हड़प्पा काल मान लें, तो शुद्ध हड़प्पा संस्कृति का अंत बहुत पहले ही (1900 ई० पूर्व के आस-पास TF-29, चरण IV) हो गया होगा। इस प्रकार परिधीय हड़प्पा संस्कृति का काल विस्तार लगभग 2200-1700 ई० पूर्व रखा जा सकता है। यह उल्लेखनीय है कि हड़प्पा संस्कृति के काल विस्तार सीमाओं की तिथियां, कालीबंगन टीला II, तथाकथित प्राग्हड़प्पा के टीले I, से प्राप्त नमूने के आधार पर निश्चित की गयी है। कार्बन तिथियों के प्रत्यक्ष मूल्यांकन के आधार पर प्राग्हड़प्पा संस्कृति का अंतिम काल लगभग 1900 ई० पूर्व तक निर्धारित किया जा सकता है। अतः इस कठिन समस्या के दो समाधान हो सकते हैं : (i) हड़प्पा तथा प्राग्हड़प्पा संस्कृतियों के मध्य अति अल्प अंतर के फलस्वरूप कार्बन मापन विधि इसे पकड़ नहीं पाती और (ii) दोनों ही संस्कृतियां कुछ समय तक विभिन्न टीलों में या अन्य स्थलों में (जैसा पहले ही उल्लेख किया जा चुका है) समकालीन थी। इसी आधार पर कालीबंगन टीला I के मकानों से हड़प्पा और प्राग्हड़प्पा मृद्भांडों का साथ-साथ मिलना भी समझा जा सकता है।

संक्षेप में हड़प्पा संस्कृति के केन्द्रीय क्षेत्र में काल-विस्तार लगभग 2300-2000 ई० पूर्व है तो परिधीय क्षेत्र में लगभग 2200-1700 ई० पूर्व के बीच हड़प्पा संस्कृति के प्रारंभ की यथार्थ तिथि निर्धारण के लिए मोहनजोदड़ो के प्रारंभिक स्तरों के नमूनों का मापन करने की आवश्यकता है। कार्बन-14, व कार्बन-12 के अनुपातों में यदि भूतकाल में कोई परिवर्तन होता रहा है तो तदनुसार संपूर्ण कालानुक्रमों को थोड़ा आगे-पीछे हटाया जा सकता है।

IV. ताम्राश्मीय संस्कृतियों का कालानुक्रम

उत्तर पश्चिम इतर-हड़प्पा संस्कृतियों शीर्ष के अंतर्गत हम पहले कुछ प्राक् व समकालीन हड़प्पा संस्कृतियों के कालानुक्रम के विषय में लिख चुके हैं। अब यहाँ पर कुछ उत्तरकालीन संस्कृतियों जैसे, कायथा, अहाड़, मालवा और

जोवें आदि का वर्णन करेंगे। उनकी विवेचना यहाँ भारत के मध्य व दक्षिणी, उत्तर-पश्चिमी और पूर्वी क्षेत्रों के अंतर्गत करेंगे।

क. उत्तर-पश्चिमी संस्कृतियाँ

उत्तर-पश्चिम में हड़प्पा संस्कृति के पटाक्षेप के थोड़ा पहले ही विविध संस्कृतियां प्रस्फुटित हुई देखते हैं। उनकी तिथि का निर्धारण करना कठिन है। फिर भी हम प्राप्त पुरातात्विक सामग्री का विश्लेषण करने का प्रयत्न करेंगे।

दक्षिणी बलूचिस्तान में शाही टूंप की कब्रें, एक कुल्ली संस्कृति के ग्राम के भग्नावशेषों के ऊपर अवस्थित मिली हैं। इन कब्रों के विशेषक हैं, पूर्ण शवाधान, हरित या गुलाबी रंगीय एक पतला मृद्भांड, विविध प्रकार के कटोरे, काले से भूरे रंगों मे चित्रित पट्ट, भाले का एक फल, मरगोल सुए, हत्थे के लिए छेद वाली कुल्हाड़ियाँ, खानेदार मोहरें आदि। ये सारे उपकरण ताम्र के होने के कारण महत्वपूर्ण हैं। ईरानी समरूपों के आधार पर, इन मोहरों की तिथि हिस्सार IIIB अथवा लगभग 2000 ई० पूर्व कही जा सकती है। कुल्ली संस्कृति की उपलब्ध तिथियाँ लगभग 2000 ई० पूर्व की हैं। इसके आधार पर शाही टूंप संस्कृति की तिथि, लगभग 2000 से 1900 ई० पूर्व के बीच रखनी पड़ेगी। मुंडीगाक में काल IV और V में ऐसी ही मोहरें प्रचलित थीं। हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी प्रायः आर्यों के प्रसार के साथ संबंधित की जाती हैं। इस तरह की कुल्हाड़ियों की तिथि मायकोप और असंकाया में लगभग 1800 ई० पूर्व मानी गयी है। लेकिन मुंडीगाक के काल III के स्तर से मिलने के कारण इन्हें तिथि-निर्धारणार्थ प्रयुक्त नहीं किया गया। इसी प्रकार खानेदार मोहरें, मरगोल सुए और हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ियाँ आम्री, चांहूदड़ो और झूकर की परवर्ती संस्कृति वाले स्तरों से मिलती हैं। लेकिन शाही टूंप के मृद्भांड झूकर से भिन्न हैं। झूकर में बुफिया स्लिप अथवा लाल पट्ट वाले पांडु मृद्भांड हैं। पूर्ववर्ती हड़प्पा संस्कृतियों के स्तरों से इन झूकर स्तरों का एकाएक संबंध विच्छेद दृष्टिगोचर नहीं होता। ताम्र की खानेदार मोहरों व सौन्दर्य प्रसाधन पात्रों की तुलना, हिस्सार काल III से की जा सकती है।

चांहूदड़ो में झूकर संस्कृति के पश्चात् झांगर संस्कृति का अभ्युदय हुआ। धूसर-काले चमकीले चित्रित मृद्भांड झांगर संस्कृति की विशिष्टताएँ हैं। स्यालक नेकरोपोलिस B के तीन खाने वाले पात्र झांगर संस्कृति के अनुरूप हैं। असीरियाई मोहर के आधार पर गिर्शमान ने नेकरोपोलिस B को लगभग 900

ई० पूर्व तिथि दी है। उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर, आंगर संस्कृति का काल लगभग 900 ई० पूर्व या थोड़ा बाद का कहा जा सकता है।

दूसरी महत्वपूर्ण परवर्ती हड़प्पा संस्कृति का उदाहरण हड़प्पा की कब्रगाह-H है। इसके दो स्तर हैं : प्रथम स्तर से सीधा शवाधान मिला है तो दूसरे से एक पात्र में अंत्येष्टि सामग्री के अवशेष। व्हाल ने कब्रगाह R-37 और-H के बीच 2·1 से 2·7 मीटर मलवे की परत और आबादी के क्षेत्र में भी संस्कृतियों के इन दोनों स्तरों के बीच 1 मीटर मलवे की परत को इंगित करते हुए दोनों संस्कृतियों के बीच व्यवधान सिद्ध किया है। परंतु अल्चिन के मतानुसार हड़प्पा स्तर और कब्रगाह H स्तर के बीच अधिक कालांतर नहीं है। वे टेपे गियान (संस्तर II-III) और जमशिदी II के समरूप मृद्भांडों के आधार पर कब्रगाह-H की तिथि 1750 और 1400 ई० पूर्व के मध्य स्थिर करते हैं।

सतह से प्राप्त अवशेषों में बहुत से ताम्र उपकरण हैं। पश्चिमी एशिया व कैस्पियन के क्षेत्र को समतुल्य उपकरणों के आधार पर इनका काल निर्धारण किया गया है। लेकिन इन अनिश्चित प्रमाणों के आधार पर तिथि-निर्धारण करना कठिन है। केवल मुग़ल घुंडई की कब्रों और संबंधित स्थलों की स्यालक नेकरोपोल B से सगोत्रता है। इसके आधार पर इनकी तिथि लगभग 900 ई० पू० मानी जा सकती है।

ख. दक्षिणी और मध्य भारत की संस्कृतियां

इस उपशीर्षक के अंतर्गत कायथा, बनास, मालवा व जोर्वे आदि संस्कृतियों की तिथियों की विवेचना करेंगे। मुख्य स्थल आरेख 1 में दिखाये गये हैं।

ताम्र संस्कृतियों में ज़िला उज्जैन में स्थित कायथा एक महत्वपूर्ण स्थल है, इसका उत्खनन वाकणकर, और बाद में धवलीकर और अंसारी ने किया। यहां पर कायथा, बनास व मालवा संस्कृतियों का परस्पर अनुक्रम स्पष्ट हो जाता है। छोटे-छोटे घर, एक विशिष्ट प्रकार के मृद्भांड, ताम्र तथा उत्कृष्ट प्रस्तर-फलक उपकरणों का सीमित प्रयोग कायथा संस्कृति की विशिष्टताएं हैं। काली पृष्ठ भूमि पर बैंजनी रंग से चित्रित पतले व मजबूत मृद्भांड यहां की विशेषता हैं। उत्कीर्ण व तिरछा अलंकरण इसकी अपनी विशिष्टता है। इन विशेषताओं का पश्चिमी एशिया से सादृश्य अभी तक स्थापित नहीं हो पाया है। अतः इनकी तिथि के निर्धारणार्थ हमें कार्बन तिथियों पर ही (आरेख-1) पूर्णतः निर्भर होना पड़ेगा।

(i) बनास (अहाड़)

बागोर संस्कृति के प्रथम चरण से ही लघु-अश्म मिले हैं। दूसरे चरण में ताम्र उपकरणों के साथ लघु-अश्म मिलते हैं। इस विशिष्टता के कारण इसको भी ताम्राश्मीय संस्कृतियों में माना जाता है। बागोर से कहीं अधिक विकसित संस्कृति थी बनास की। चाकनिर्मित उत्कृष्ट मृद्भाण्ड, धातु शोधन का ज्ञान, अच्छे मजबूत मकान, लघु-अश्मों का अभाव अहाड़ संस्कृति की विशिष्टताएँ हैं।

लेकिन बनास संस्कृति की मुख्य विशिष्टता उसके चित्रित काले-लाल मृद्भांड हैं। संकालिया ने इंगित किया है कि रंगपुर काल III से प्राप्त अधिकांश मृद्भांडों का आकार अहाड़ के अनुरूप है। अहाड़ I C के कुछ कटोरों के समरूप नवदाटोली के चरण III से मिलते हैं। संकालिया के मतानुसार अहाड़ की सपीठ थालियों में विशेष रूप से हड़प्पा संस्कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है। उन्होंने यहाँ से प्राप्त पोले तनेदार कटोरे और पशु सिर वाली हत्थों की पश्चिमी एशिया के शाहटेपे तथा टेपे हिस्सार के नमूनों से साम्य की ओर ध्यान आकृष्ट किया है। तिथि निर्धारण के लिए इन सामान्य समानताओं का उपयोग नहीं किया जा सकता।

स्तरविन्यास की दृष्टि से कायथा-उत्खनन से ज्ञात होता है कि बनास संस्कृति मालवा संस्कृति से पूर्ववर्ती है। इस निष्कर्ष की पुष्टि कार्बन तिथि से भी होती है।

(ii) मालवा और जोर्वे

1963 में संकालिया ने मालवा और जोर्वे संस्कृतियों का सिंहावलोकन कर अनेक ईरानी व भारतीय मृद्भांड प्रकारों में सादृश्य स्थापित किया। उदाहरणार्थ टोंटीदार पात्र नवदाटोली काल III, दैमाबाद, गिलूंद, पांडु राजार ढीबी, चिरान्द और ओरियप से मिले हैं। शर्मा ने आंध्र प्रदेश में कुर्नूल जिले के कुछ स्थलों से प्राप्त इसी प्रकार के छोटी टोंटीवाले पात्रों का हवाला दिया है।

(iii) नवदाटोली

नवदाटोली के मृद्भांडों पर बाहर से जालीदार समचतुर्भुज व भीतर से मत्स मानव चित्र भी बने हैं। इन मृद्भांडों के समरूप लगभग 900 ई० पूर्व स्यालक B और गियान काल I में प्रचलित थे। परंतु लोहा और धूसर भांड

जो स्याल्क B और गियान I की विशिष्टताएँ हैं, मालवा व जोर्वे संस्कृतियों से नहीं मिले। वैसे भी नवदाटोली के अपने विशेषक उनके ईरानी समरूपों से कई सौ साल पुराने हैं। ईरानी सामग्री के अध्ययन से गुप्ता इस सादृश्य पर शंका व्यक्त करते हुए लिखते हैं, "स्याल्क के टोंटीदार पात्रों की टोंटी न केवल काफी बड़ी है, बल्कि उन बर्तनों पर वक्राकार हत्थे भी हैं।"

यदि स्याल्क B के लिए शैफर की दी हुई दूसरी सहस्राब्दी ई० पूर्व की तिथि मानी जाय, तभी इन भारतीय संस्कृतियों के ईरानी समरूपों की तिथियाँ उचित सिद्ध हो सकती हैं। लेकिन अब गिर्शमान ने असीरियाई प्रकार की बेलनाकार मोहर के आधार पर स्याल्क B की तिथि लगभग 900 ई० पूर्व निश्चित कर दी है। अजबेजान में हसानलु के ऐसे ही स्तर की कार्बन तिथि 812±130 ई० पूर्व है। इस संदर्भ में गोर्डन द्वारा चर्चित चाय की केतली की तुलना खुली नलीदार टोंटी वाले मृद्भांडों से नहीं की जा सकती क्योंकि सीरिया में ही इस प्रकार की चाय की केतली के प्रकारों की तिथि लगभग 2100-1700 ई० पूर्व के बीच मानी गयी है। 1969 में संकालिया ने ताम्राश्मीय पात्रों के पश्चिमी एशियाई समरूपों की एक विस्तृत सूची प्रस्तुत की, जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। आपने लगभग 5000 ई० पूर्व के स्तर से स्माईलाबाद (ईरान) व काराटेपे (सहरियार) और लगभग 3000 ई० पूर्व के स्याल्क से मिले टोंटीदार नली वाले पात्रों का भी उल्लेख किया है और सिद्ध किया है कि ये ईरानी रूप मालवा संस्कृति से कहीं पुराने हैं। नवदाटोली के प्रथम चरण से ही ठोस तने व चपटे आधार के कटोरे प्रचलित थे। वैसे खोखले तने के कटोरे भी मिले हैं। इन आकारों के कटोरे व चमकीले लाल और घटिया धूसर मृद्भांड रंगपुर काल III में भी प्रचलित थे। राव के मतानुसार हड़प्पा की सपीठ थालियों का ह्रास तीन चरणों में तनेदार कटोरों में पूरा हुआ। खोखले तने का एक बर्तन कालीबंगन काल I तथा एक घटिया धूसर प्रकार अहाड़ से मिला है। ऐसे मृद्भांड चांहूदड़ो में झूकर काल के स्तर से भी प्राप्त हुए हैं। नवदाटोली के मृद्भांड आकारों की विवेचना करते हुए संकालिया लिखते हैं, "यद्यपि पूर्वी ईरानी स्थलों के पात्रों के तने अपेक्षतः छोटे व खोखले हैं तो भी इन सारे ही चार या पाँच प्रकार के कुल्हड़ों की तुलना स्याल्क, गियान, हिस्सार काल II के आकारों से की जा सकती है। हिस्सार में, विशेषतः हिस्सार काल III A में, लम्बे व ठोस तने वाले कटोरे मिलते हैं, लेकिन IB और IIA के कटोरों का रूप और अलंकरण तुलनात्मक दृष्टि से अधिक समीप हैं।" नवदाटोली व अहाड़ की अपेक्षा स्याल्क I-III

तथा हिस्सार I-II का काल अधिक प्राचीन होने के कारण संकालिया मालवा संस्कृति पर इन ईरानी स्थलों का प्रभाव अप्रत्यक्ष और साधारण प्रकार का बतलाते हैं। 1969 में संकालिया ने नवदाटोली से प्राप्त चपटे और खोखले दोनों प्रकार के सपीठ प्यालों के अधोभाग पर की गयी चित्रण का निकटतम सादृश्य याम्री I और हिस्सार (काल नहीं दिया गया है) से किया है। वे लिखते हैं, "इस प्रकार की विशिष्टता हड़प्पा संस्कृति से एकदम और रंगपुर सहित भारत की बहुत सी ताम्राश्मीय संस्कृतियों में नहीं मिलती।" थापड़ के मतानुसार खोखले वृत्तों में भरे बिंदु चित्रित गोल प्यालों तथा कार्केमिश के प्रारंभिक हिट्टाइट कालीन बर्तनों में साम्य है। 1971 में अग्रवाल ने नवदाटोली के कटोरों को मुंडीगाक के समरूपों से, तथा लंबे तने वाले कटोरों की तुलना मुंडीगाक के नतोदर किनारे वाले कटोरों से की है। इन दोनों ही आकारों की तिथि मुंडीगाक काल IV, लगभग 2200 ई० पूर्व है। यहाँ तक कि दोनों ही स्थलों के कटोरों पर ठोस त्रिकोणों का एकान्तर चित्रण एकदम एक सा है। मुंडीगाक के ये नमूने काल III लगभग 2600 ई० पूर्व के हैं। बहुत से पश्चिमी एशियाई स्थलों, विशेष रूप से हिस्सार काल III के पशुरूप पात्र जैसे प्रकार चंदोली व निवासा में भी मिले हैं। अधिकांश पश्चिमी एशियाई पात्रों का ऊर्ध्वस्थ (Vertical) मुंह है, लेकिन भारतीय पात्रों का एक ओर। संकालिया ने सांड की एक लघु-मृणमूर्ति को लगभग 1475 ई० पूर्व के नूज़ी के मंदिर से प्राप्त चक्र पर अंकित सांड के सदृश्य बताया है। स्याल्क नेकरोपोल B (कब्रिस्तान। से प्राप्त पात्र का मुंह भी एक तरफ खुलता है। मुंडीगाक काल IV 1_3 से भी पशु-रूप पात्र मिले हैं। चंदोली से प्राप्त एक तिपाए कटोरे की तुलना गियान के नमूनों से की जा सकती है।

संकालिया ने नृत्यरत मानवाकृतियों वाले डिजाइन के समरूप, स्याल्क तथा चाग़र बाजार आदि में पाये हैं। टोगाउ के चरण A मृद्भांड पर भी इस प्रकार की मानवाकृतियां अंकित हैं। स्याल्क III तथा नवदाटोली से प्राप्त एक दूसरे का हाथ पकड़े आकृतियों के चित्र, संकालिया के अनुसार हूबहू एक से हैं। डी कार्डी ने दर्शाया है कि प्रसिद्ध सर्पिल डिजाइन (Pothook Spiral) का विकास टोगाउ की रूढ़िगत शैली में चित्रित मृग से हुआ है। परवर्ती काल में ये डिजाइन लौंडो मृद्भांडों की विशिष्टता बन गये। संकालिया के मतानुसार याम्री काल I (लगभग 2800 ई० पूर्व) और नवदाटोली के ऐसे सर्पिल डिजाइनों के बीच भी साम्य है। परंतु इस प्रकार के डिजाइन हड़प्पा मृद्भांडों पर नहीं पाये जाते। अन्य उल्लेखनीय अनुरूपता प्रकाश और दैमाबाद

के तथा हिस्सार और स्याल्क III के बिंदु चित्रित दीर्घाकार पशुओं के चित्रण में हैं। यह डिजाइन भी हड़प्पा संस्कृति में नहीं मिलता। चंदोली तथा निवासा के मृद्भांडों पर अंकित दौड़ते हुए कुत्तों के चित्रण की तुलना संकालिया ने गियान और बाकुन से प्राप्त डिजाइनों से की है।

ग. अन्य तुलनात्मक विशेषक

संकालिया के मतानुसार निवासा से प्राप्त पकी मिट्टी की बनी एक मातृका की समरूपता हिस्सार काल III की प्रतिमाओं से है। नवदाटोली के रीढ़दार ताम्र फलक के टुकड़े तथा चंदोली की शृंगिका युक्त कटार की तुलना कुछ पश्चिमी एशियाई उदाहरणों से की जा सकती है। महाड़ और ट्रॉय में प्राप्त मिट्टी के तर्कु चक्कर के उत्कीर्ण डिजाइनों में समानता है। नागदा से भी डिजाइन वाले ऐसे तर्कु चक्कर मिले हैं, यद्यपि संकालिया के मतानुसार वे एकमात्र महाड़ में पाये जाते हैं।

गुप्ता ने बताया है कि ज्यादनेप्राव्स्की के अनुसार फरग़ना घाटी की चुस्त संस्कृति और मालवा संस्कृति के मध्य संबंध था। जबकि श्काटको वहाँ की ताम्राश्मीय संस्कृतियों को शुद्ध भारतीय मानते हैं और कोई समानता इन संस्कृतियों में नहीं पाते। गुप्ता भी सामान्य समानताओं के आधार पर चुस्त और मालवा संस्कृतियों के बीच सादृश्य स्थापित करना ग़लत समझते हैं। गुप्ता के मतानुसार इन संस्कृतियों के बीच वैभिन्न्य अधिक है। दोनों की अंत्येष्टि प्रथाओं में महत्वपूर्ण अंतर है। भारत में पात्र शवाधान व विस्तारित शवाधान प्रचलित थे, तो फरग़ना घाटी में मुड़े हुए शवाधान। चुस्त संस्कृति में किलेबंदी थी, परंतु मालवा संस्कृति में नहीं। डुलवर्जिन स्थल की कार्बन तिथि 2720±120 और 3050±120 वर्ष पुरानी ही है। स्पष्ट है कि यह संस्कृति बाद की थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि चुस्त संस्कृति भी भारतीय ताम्राश्मीय संस्कृतियों के कालानुक्रमण में सहायक सिद्ध नहीं होगी।

उपर्युक्त विस्तृत प्रमाण भारतीय ताम्राश्मीय संस्कृतियों पर विशेष रूप से मालवा संस्कृति पर ईरानी प्रभावों को स्पष्ट करते हैं। लेकिन ये प्रमाण इन संस्कृतियों के तिथि निर्धारण के लिए पर्याप्त नहीं हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारतीय ताम्राश्मीय संस्कृतियों व पश्चिमी ईरानी मृद्भांडों में काफी सादृश्य होते हुए भी अधिकतर प्रमाण काल और स्थान दोनों दृष्टियों से एक दूसरे से दूर हैं।

ब. ताम्राश्मीय संस्कृतियों का आपेक्षिक कालानुक्रम

अब हम भारतीय संस्कृतियों के तुलनात्मक विश्लेषण के आधार पर उनका काल निर्धारण करने का प्रयत्न करेंगे।

काले-लाल चित्रित मृद्‌भांड, रंगपुर (काल II से आगे), लोथल A और B, सुरकोटडा IC, अहाड़ IA नवदाटोली प्रकाल I (काल III), नागदा I, एरण IIC और III में परस्पर संबंध जोड़ने वाली कड़ी हैं। जालीदार त्रिकोण, वक्र रेखाएं आदि रंगपुर तथा नवदाटोली में समान रूप से चित्रित हैं। अतः नवदाटोली III की तुलना रंगपुर IIC और III से की जा सकती है। काले-लाल चित्रित मृद्‌भांड गिलूंद के सभी स्तरों से मिलते हैं, जब कि नवदाटोली के केवल चरण (काल III में) से। नृत्य-चित्र और बिंदु-अंकित पशु डिजाइन वाले दूधिया स्लिप वाले मृद्‌भांड जहाँ गिलूंद की सबसे ऊपरी सतह से मिले हैं, वहाँ ये नवदाटोली के केवल प्रारंभिक प्रकाल में ही सीमित हैं। अतः स्पष्ट है कि गिलूंद में बनास संस्कृति, नवदाटोली की अपेक्षा पूर्ववर्ती है।

मालवा मृद्‌भांडों का काल विस्तार व्यापक है। ये नवदाटोली के प्रकाल I से IV (काल III), नागदा I, बाहल I B, दैमाबाद प्रकाल II, चंदोली I, और प्रकाश I A काल में प्रचलित थे।

जोर्वे मृद्‌भांड प्रकाश I B, नवदाटोली चरण III-IV, बाहल I B, निवासा II, सोन गाँव I, चंदौली, जोर्वे I, ईनाम गाँव II, अहाड़ I B और दैमाबाद III के काल स्तरों से मिले हैं। सर्वप्रथम प्रकाश के उत्खनन के स्तरीकरण से सिद्ध हुआ है कि जोर्वे मृद्‌भांड, मालवा से बाद के हैं। इसी तथ्य की पुष्टि हम कालांतर में दैमाबाद, बाहल तथा नवदाटोली उत्खननों से पाते हैं।

घटिया किस्म के काले-लाल तथा दूधिया स्लिप वाले मृद्‌भांड मिलने के कारण, चंदोली नवदाटोली की अपेक्षा परवर्ती है। चंदोली में जोर्वे मृद्‌भांड (कुल के 37%) की मालवा मृद्‌भांडों की अपेक्षा बहुलता है। निवासा में दूधिया स्लिप वाले मृद्‌भांडों के न मिलने से प्रतीत होता है कि यह स्थल चंदोली की अपेक्षा परवर्ती है। देव के मतानुसार "चंदोली नवदाटोली के प्रारंभिक प्रकाल से परवर्ती और संभवत: निवासा से थोड़ा पूर्ववर्ती है।

रंगपुर II C और III, प्रकाश II A, नवदाटोली प्रकाल IV (काल III), प्रकाश I B, अहाड़ I C और बाहल I B से प्राप्त चमकीले लाल मृद्‌भांड इनके परस्पर संबंधों को इंगित करते हैं।

ताम्राश्मीय स्थलों की कार्बन तिथियाँ

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई० पूर्व (मर्धायु 5730 वर्ष)	स्थल	कार्बन तिथियाँ ई० पूर्व (मर्धायु 5730 वर्ष)
अहाड़ (राजस्थान)	TF-31, 1270±110 TF-32, 1550±110 TF-34, 1725±140 TF-37, 1305±115 V-56, 1875±100 V-55, 1990±125 V-54, 2000±100 V-58, 2055±105 V-57, 2145±100	ईनामगाँव (महाराष्ट्र)	TF-923, 1025±170 TF-996, 1070±185 TF-922, 1345±100 TF-1085,1440±110 TF-924, 1370±200 TF-1087,1405±105 TF-1086,1535±155 TF-1000,1375±85 TF-1001,1565±95 TF-1235,1275±95 TF-1330,1225±105
बागौर (राजस्थान)	TF-1005± 1006 2110±90 TF-1009,2765±105	कायथा (मध्य प्रदेश)	TF-776, 1605±115 TF-974, 1635±100 TF-778, 1705±95 TF-777, 1780±100 TF-780, 1835±100 TF-779, 1840±110 TF-781, 1880±105 (डक्कन कालेज के उत्खनन से)
चन्दोली (महाराष्ट्र)	TF-43, 1040±105 TF-42, 1170±120 P-474, 1240±190 P-472, 1300±70 P-473, 1330±70		
एरण (मध्य प्रदेश)	TF-326, 1040±110 TF-324, 1270±110 P-525, 1340±70 P-528, 1050±65 P-526, 1280±70 TF-330, 1365±100 TF-327, 1425±105 TF-329, 1445±110 TF-331, 1500±95		

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई० पूर्व (अर्धायु 5730 वर्ष)	स्थल	कार्बन तिथियाँ ई० पूर्व (अर्धायु 5730 वर्ष)
कायथा (मध्य प्रदेश)	TF-679, 1300±135 TF-676, 1305±105 TF-401, 1335±105 TF-402, 1380±100 TF-405, 1465±100 TF-397, 1500±100 TF-398, 1675±100 TF-678, 1685±100 TF-399, 1675±100 TF-396, 1730±110 TF-680, 2015±100 विक्रम विश्वविद्यालय के उत्खनन से	निवासा (महाराष्ट्र)	TF-40, 1250±110 P-181, 1250±125
मालवन (गुजरात)	TF-1084, 800±95	सोनगांव (महाराष्ट्र)	TF-379, 1290±95 TF-383, 1330±100 TF-382, 1340±100 TF-380, 1375±100 TF-384, 1565±110
नवदाटोली (मध्यप्रदेश)	P-205, 1445±130 TF-59, 1523±110 P-204, 1600±130 P-200, 1610±130 P-475, 1610±70	चिरान्द (बिहार)	TF-444, 715±105 TF-334, 845±125 TF-1029, 1050±90 TF-445, 1650±100
नवदाटोली (मध्यप्रदेश)	P-201, 1645±130 P-202, 1660±130 P-476, 2300±70	महिषदल (पश्चिम बंगाल)	TF-390, 855±100 TF 391, 1380±105 TF-392, 1385±110
		पांडुर राजार ढीबी (पश्चिमी बंगाल)	? 1012±120
		प्रयास पाटन (गजरात)	TF-1284, 1615±100 TF-1286, 1755±95 TF-1287, 2455±100

तालिका 2

राजस्थान, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, बिहार, गुजरात और बंगाल की ताम्राश्मीय संस्कृतियों की कार्बन तिथियाँ

ताम्राश्मीय संस्कृतियों के स्तरीकरण तथा कार्बन तिथियों के आधार पर, कालानुक्रम की दृष्टि से, सर्वप्रथम कायथा, द्वितीय बनास, तत्पश्चात् मालवा और अंत में जोर्वे संस्कृति आती हैं। मालवा संस्कृति के स्थल नवदाटोली (प्रकाल I) के पश्चात्, नागदा, एरण, रंगपुर II B प्रकाश, जोर्वे, ईनाम गाँव I, चंदोली और सबसे अंत में निवासा इस कालानुक्रम से आते हैं। यद्यपि मालवा मृद्भांड प्रकाश में प्रारंभ से ही उपलब्ध हैं, लेकिन काल IA में च० ला० भांड के भी मिलने से उपर्युक्त क्रम में इसका स्थान कुछ परवर्ती प्रतीत होता है।

संगनपल्ली (जिला कुरनूल) तथा अन्य कुछ स्थलों से नवाश्मीय अवशेषों के साथ चित्रित मृद्भांड व चक्र मनके प्राप्त हुए हैं। राव के मतानुसार इस संस्कृति पर मालवा संस्कृति का प्रभाव है। संकालिया इस (कुरनूल की) संस्कृति में आरी से काटे गये किनारे वाली अश्म की कुल्हाड़ी मिलने के आधार पर, इस संस्कृति पर पूर्वी (पांडु राजार धीबी) प्रभाव बतलाते हैं, और इसलिए इसकी तिथि लगभग 1000 ई० पूर्व निर्धारित करते हैं।

साली ने ताप्ती घाटी में स्थित सेवाल्दा से एक विशिष्ट प्रकार का लाल मृद्भांड खोजा है, जिसकी पृष्ठभूमि के रंग कई प्रकार के हैं। हथियारों का चित्रण इसकी विशिष्टता है। सेवाल्दा तथा संगनपल्ली दोनों ही महत्त्वपूर्ण संस्कृतियाँ हैं। दोनों ही संस्कृतियों का कार्बन तिथिकरण होना बहुत आवश्यक है।

ङ ताम्राश्मीय संस्कृतियों की कार्बन तिथियाँ

ताम्राश्मीय संस्कृतियों की तिथियाँ आरेख 9 में अंकित हैं और तालिका 2 में दी गयी है।

कायथा से कई कार्बन तिथियाँ प्राप्त हैं। बाद के उत्खनन से ज्ञात तिथियों की आंतरिक संगति के आधार पर हमने पूर्ववर्ती उत्खनन की संगत तिथियों पर भी विचार किया है। यदि TF-680, 2015±100 को कायथा संस्कृति का प्रारम्भ मानें तथा ऊपरी सतह से प्राप्त TF-780, 1835±100 ई० पूर्व और TF-779, 1840±110 ई० पूर्व के आधार पर इस संस्कृति का अंत लगभग 1800 ई० पूर्व मानें, तो इस संस्कृति का काल-व्यापन लगभग 2000 से 1800 ई० पूर्व मान सकते हैं। संगत तिथियों के आधार पर TF-776,-777,-399 और-678 बनास संस्कृति का काल-विस्तार इस स्थल पर लगभग 1800 से 1600 ई० पूर्व कहा जा सकता है। बनास संस्कृति के पश्चात् आने वाली मालवा संस्कृति का काल-विस्तार TF-974,-398,-397,-

402,-676 के आधार पर लगभग 1600 से 1300 ई० पूर्व० रखा जा सकता है। प्रहाड़ की नौ कार्बन तिथियाँ हैं (तालिका 2, आरेख 9)। विक्टोरिया प्रयोगशाला की पाँच-तिथियों की त्रुटियों की औसत तिथि 1995± 45 ई० पूर्व अर्थात् लगभग 2000 ई० पूर्व बैठती है। काल I B एक तिथि TF-34, 1725±140 ई० पूर्व है और काल I C की TF-31,±1270± 110 है। TF-31 की तिथि में एक मानक विचलन जोड़ा जाय तो अंतिम सीमा 1380 या 1400 ई० पूर्व निर्धारित होती है। बनास संस्कृति का कुल काल-विस्तार इस प्रकार लगभग 2000 से 1400 ई० पूर्व कहा जा सकता है।

नवदाटोली के काल III के प्रकालों की आठ कार्बन तिथियाँ उपलब्ध हैं। प्रकाल I की अधिकांश तिथियाँ 1600 ई० पूर्व के आसपास की हैं। यदि इसमें एक मानक विचलन को जोड़ दिया जाय तो मालवा संस्कृति के प्रारंभ की अधिकतम तिथि लगभग 1700 ई० पूर्व होगी। प्रकाल IV की तिथि P-205, 1445±130 है। यदि बीच की तिथि को लें तो नवदाटोली की मालवा संस्कृति का काल विस्तार लगभग 1700 से 1450 ई० पूर्व के बीच माना जा सकता है। प्रकाल IV से जोर्वे संस्कृति का प्रादुर्भाव होने लगता है।

मध्य प्रदेश के महत्वपूर्ण स्थल एरण की तिथियां अधिक उतार-चढ़ाव दिखलाती है। तालिका 2, आरेख 9, TF-327, 329, और-331 की संगति पूर्ण तिथियों के अनुसार काल I को तिथि लगभग 1500 ई० पूर्व है। इस स्थल पर ताम्रश्मीय युग का अंत संभवत: लगभग 1000 ई० पूर्व (TF-326) हो गया।

पूना जिले में स्थित मालवा संस्कृति के स्थल ईनामगाँव से अनेक कार्बन तिथियाँ प्राप्त हैं (तालिका 2)। काल I का विस्तार लगभग 1500 से 1300 ई० पूर्व प्रतीत होता है। काल II जोर्वे संस्कृति का है। जिसका काल विस्तार लगभग 1300 से 800 ई० पूर्व तक है। निश्चित रूप से इससे अधिक कुछ कहने के पहले इस स्थल की पूर्ण उत्खनन रिपोर्ट का इंतजार करना होगा।

इसके अतिरिक्त सोन गांव, निवासा और चन्दोली से जोर्वे संस्कृति का तिथि मापन किया गया। सोनगाँव की चार संगतिपूर्ण तिथियों (TF-379,-383, -382,-380) के अनुसार इस संस्कृति का काल-व्यापन इस स्थल पर लगभग 1400 से 1300 ई० पूर्व है। चंदोली से प्राप्त तिथियों (TF-43,-42 और P-474,-472,-473) के अनुसार इस संस्कृति की काल-सीमा इस स्थल पर लगभग 1300 से 1000 ई० पूर्व के बीच है। निवासा के दो नमूनों TF-40

तथा P-181 की तिथियाँ क्रमशः 1250±110 तथा 1250±125 ई० पूर्व हैं। अतः जोर्वे संस्कृति के पूर्ण काल-विस्तार को लगभग 1400 से 800 ई० पूर्व स्थिर किया जा सकता है।

अल्चिन और जोशी ने गुजरात के एक स्थल मालवन का उत्खनन किया। यहाँ से केवल मात्र तिथि TF-1084, 800±95 ई० पूर्व है। उत्खननकों ने प्राप्त स्तर की तुलना रंगपुर II C से की है। राव ने रंगपुर में इस चरण की तिथि लगभग 1000 ई० पूर्व निर्धारित की है।

ख. पूर्वी ताम्राश्मीय संस्कृतियाँ

प्राप्त सामग्री और चित्रित मृद्भांडों की अनुपस्थिति के आधार पर, बी० एन० मिश्रा ने अपने लेख में पूर्वी ताम्राश्मीय संस्कृतियों को दो भागों में विभाजित किया है। इस विभाजन का आधार है, काकेरिया तथा सोनपुर में सादे (अचित्रित) काले-लाल मृद्भांड तथा चिरांद, महिषदल, पांडुर राजार ढीबी से चित्रित काले-लाल मृद्भांड।

महिषदल और पांडुर राजार ढीबी पश्चिमी बंगाल के दो महत्वपूर्ण ताम्राश्मीय संस्कृतियों के स्थल हैं। महिषदल के काल I के मुख्य विशेषक नेगल और मिट्टी के झोपड़े, लघु अश्म, एक चपटी ताम्र कुल्हाड़ी, हड्डी के उपकरण, जले हुए चावल और विविध प्रकार के मृद्भांड हैं। यहाँ चित्रित और सादे दोनों ही प्रकार के लाल मृद्भांड प्रचलित थे। लेकिन काले-लाल मृद्भांड ही यहाँ की मुख्य परंपरा है। प्राप्त अवशेषों की समानता पांडुर राजार ढीबी के काल II और III से है। टोंटीदार कटोरे, सपीठ थालियों और अंत्येष्टि विधियों से ज्ञात होता है कि महिषदल का महाराष्ट्र तथा मध्य भारतीय ताम्राश्मीय संस्कृतियों से संबंध रहा होगा। इन संस्कृतियों के तिथि निर्धारणार्थ पुरातात्त्विक प्रमाण उपलब्ध न होने से, हमें पूर्ण रूप से कार्बन तिथियों पर ही निर्भर रहना होगा।

बिहार में चिरांद के काल IIA से ताम्राश्मीय संस्कृति के अवशेष मिले हैं। उत्खनक वर्मा व सिन्हा के अनुसार काल I नवाश्मीय संस्कृति का है। जबकि संकालिया इसे ताम्राश्मीय संस्कृति की प्रावस्था मानते हुए धातु के मिलने की आशा रखते हैं। संकालिया के अनुसार सभी मृद्भांड चाक निर्मित हैं, जबकि वर्मा अधिकांश मृद्भांडों को हस्त निर्मित मानते हैं। संकालिया के विचार से प्राप्त पकी मिट्टी की प्रतिमा में और नवदाटोली तथा ईनामगांव से प्राप्त प्रतिमाओं में समानता है। अध्याय 3 के अंतर्गत हम चिरांद काल I का वर्णन

कर चुके हैं। काले-लाल, लाल तथा स्याह स्लिप वाले मृद्भांड और ताम्र उपकरण काल II की अन्य विशिष्टताएं हैं। सपीठ थालियां एक प्रमुख बरतन है। बिना निश्चित आकार के उत्खनक ने एक लघु शव-पेटिका (Sarcophagus) का सहश्य पश्चिम से बतलाया है। पश्चिमी बंगाल व बिहार की ताम्राश्मीय संस्कृतियों के काले-लाल मृद्भांड, काला स्लिप वाला मृद्भांड, टोंटीदार कटोरे, तथा सपीठ थालियां दोनों क्षेत्रों की संस्कृतियों की समानताओं को परिलक्षित करते हैं।

तालिका 2 में उल्लिखित कार्बन तिथियों के आधार पर, चिरांद का काल-विस्तार लगभग 1800-1200 ई० पूर्व निर्धारित होता है। काल IIA के तीन नमूनों, TF-444,-334 और-1029 (तालिका 2 आरेख 9) के मापने से इस संस्कृति का अधिकतम सीमा विस्तार लगभग 1200 से 800 ई० पूर्व निश्चित होता है। (TF-1029 की तिथि में एक मानक विचलन जोड़ने से उपर्युक्त काल-विस्तार प्राप्त हुआ)। काल IIB से लोहा भी उपलब्ध हुआ। TF-336, 765±100 ई० पूर्व (तालिका 7) के एक मात्र नमूने के आधार पर IIB की तिथि लगभग 750 ई० पूर्व है।

महिषदल की चार कार्बन तिथियां उपलब्ध हैं। काल I के ताम्राश्मीय युग के तीन नमूने (TF-392,-391 और -390), इसका अधिकतम काल-विस्तार लगभग 1300 से 800 ई० पूर्व दर्शाते हैं। ये तिथियां आत्मसंगत अनुक्रम इंगित करती हैं। काल II में लोहा प्रयुक्त होने लगा था। इस काल की तिथि लगभग 750 ई० पूर्व (TF-336) है। संभवतः जादवपुर विश्वविद्यालय से प्राप्त, मात्र एक नमूने के आधार पर पांडुर राजार ढीबी ताम्राश्मीय काल की तिथि 1012±120 ई० पूर्व दी गयी है।

(V) ताप-संदीप्तिक तिथियां

मुख्यतः दोआब क्षेत्र में, चित्रित धूसर तथा काले-लाल मृद्भांडों से पूर्व गेरुए मृद्भांड प्रचलित थे। इनके विषय में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान गेरुए भांडों का संबंध ताम्र संचय (Copper Hoard) से तो अन्य सैंधव शरणार्थियों से जोड़ते हैं। कुछ विद्वान् समझते हैं कि यह किसी एक संस्कृति का द्योतक न होकर अनेक गेरुए व लाल मृद्भांड प्रयोग करने वाली संस्कृतियों का द्योतक है। अभी तक इस संस्कृति की कोई भी कार्बन तिथि उपलब्ध नहीं है।

आक्सफोर्ड पुरातत्व अनुसंधान प्रयोगशाला के डा० हुक्सटेबल ने गेरुए मृद्भांडों की निम्नलिखित ताप-संदीप्तिक तिथियां भेजी हैं :—

लाल किला	1800 ई० पूर्व	±10%
अतरंजी खेड़ा	1690 ई० पूर्व	
झिझना	2070 ई० पूर्व	
नसीरपुर	1340 ई० पूर्व	

उपर्युक्त सभी स्थल दोआब (उत्तर प्रदेश) में हैं।

अध्याय—4 संदर्भिका

इस अध्याय विषयक मुख्य ग्रंथ :

D. P. Agrawal	:	The Copper Bronze Age in India, 1971 (Delhi).
D. P. Agrawal and Sheela Kusumgar.	:	Prehistoric Chronology and Radiocarbon Dating in India, 1973 (Delhi).
D. P. Agrawal and A. Ghosh (Eds.)	:	Radiocarbon and Indian Archaeology, 1973 (Bombay).
B. & F. R. Allchin	:	Birth of Indian Civilisation, 1968 (Harmondsworth).
J. M. Casal	:	Fouilles de Mundigak, 1961 (Paris).
J. M. Casal	:	Fouilles de Amri, 1964 (Paris).
J. M. Casal	:	La Civilisation de I'Indus et see Enigmes, 1969 (Paris).
W. A. Fairservis	:	Excavation in the Quetta Valley, West Pakistan, 1956 (New York).
W. A. Fairservis	:	Archaeological Survey in the Zhob and Loralai Districts, West Pakistan, 1959. (New York)
D. H. Gordon	:	The Prehistoric Background of Indian Culture, 1960 (Bombay).
D. Mandal	:	Radiocarbon dates and Indian Archaeology, 1972 (Allahabad).
V. N. Misra and M S. Mate (eds.)	:	Indian Prehistory : 1964, 1965 (Poona)

S. Piggott	:	Prehistoric India, 1961 (Hormondsworth).
H. D. Sankalia	:	Prehistory and Protohistory in India and Pakistan, 1962 (Bombay).
H. D. Sankalia, B. Subba Rao and S. B. Deo.	:	Excavation at Maheshwar and Navadatoli : 1952-53, 1958 (Poona).
H. D. Sankalia, S. B. Deo and Z. D. Ansari	:	From History to Prehistory at Nevasa, 1960 (Poona).
H. D. Sankalia, S. B. Deo and Z. D. Ansari	:	Excavation at Ahar (Tambavati), 1969 (Poona).
H. D. Sankalia, S. B. Deo and Z. D. Ansari	:	Chalcolithic Navdatoli (Excavation at Navdatoli : 1957-59), 1971 (Poona, Baroda).
R. E. M. Wheeler	:	The Indus Civilisation, 1968 (Cambridge).
इस अध्याय विषयक मुख्य लेख पाकिस्तानी पुरातत्व पर	:	
F. A. Khan	:	Pakistan Archaeology, Vol. 2, 1965.
कालीबंगन व सैंधव संस्कृति के कालानुक्रम पर	:	
B. B. Lal and B. K. Thapar.	:	Cultural Forum, Vol. IX, No. 4, p. 78-88, 1967.
खानेदार कुटी-माडलों पर	:	
F. A. Durrani	:	Ancient Pakistan, Vol. I, p. 51, 1964.
मोहरों पर :		
B. Buchanan	:	Archaeology, Vol. 20, p. 107, 1967.
T. C. Bibby	:	Antiquity, Vol. 32, p. 243, 1958.
C. J. Gadda	:	Proc. of British Academy, Vol. 18, p. 191, 1932.

P. V. Glob and T. C. Bibby.	:	Scientific American, Vol. 203, p. 62, 1960.
S. R. Rao	:	Antiquity, Vol. 37, p. 96, 1963.
अन्य ताम्राश्मीय संस्कृतियों पर :		
M. K. Dhavalikar	:	World Archaeology, Vol. 2, No. 2, p. 337-346, 1971.
K. N. Dikshit	:	Bull. of the National Museum, No. 2, p. 21-28, 1971.
J. P. Joshi	:	The Eastern Anthropologist, Vol. XV, No. 3, p. 2-5, 1965.
H. D. Sankalia	:	Artibus Asiae, Vol. 26, p. 322, 1963.
H. D. Sankalia	:	Indica, Vol. 6, No. 2, p. 59-60, 1969.
B. K. Thapar	:	Ancient India, Nos, 20 and 21, p. 5-167, 1964-65.
उत्तरी व पूर्वी भारत की पुरैतिहासिक संस्कृतियों पर	:	
D. P. Agrawal	:	Asian Perspectives, Vol. XII, 1971.
S. P. Gupta	:	Jour. Bihar Res. Soc., Vol. 51, p. 1-7, 1965.
B. B. Lal	:	Ancient India, No. 7, p. 20-39, 1951.
B. B. Lal	:	American Anthropologist, Vol. 70, No. 5, p. 857-863, 1968.
V. N. Misra	:	The Eastern Anthropologist, Vol. 23, No. 3, p. 243-257, 1970.

अध्याय 5

लौह कालीन संस्कृतियों का कालानुक्रम

पुरैतिहासिक व ऐतिहासिक काल के बीच के समय में, लौह-तकनीक के प्रादुर्भाव और प्रयोग ने अतिरिक्त उत्पादन द्वारा समाज में चौमुखी विकास का मार्ग खोल दिया। बिना लौह अयस्कों की बहुलता की केवल तकनीक का ज्ञान ही पर्याप्त नहीं। ताम्र की अपेक्षा लौह की विशिष्टता उसकी कठोरता के कारण नहीं बल्कि प्रचुरता के कारण थी। हिट्टाइट साम्राज्य की शक्ति का आधार लौह धातु कर्म पर एकाधिकार था। उसी प्रकार मगध साम्राज्य की शक्ति का स्रोत राज्य द्वारा संचालित खानें तथा अयस्कों का शोधन तथा लौह व्यापार पर एकाधिकार भी था।

लगभग 1200 ई० पूर्व हिट्टाइट साम्राज्य के टूटते ही लौह तकनीक बड़ी तेजी से पश्चिमी एशिया में फैल गयी। इस उपमहाद्वीप के उत्तर पश्चिम में लगभग 1000 ई० पू० में अल्प मात्रा में लोहा मिला है। लेकिन उत्तर भारत में इसके पूर्ण प्रभाव को हम 600-500 ई० पू० में ही देखते हैं। दक्षिण भारत में लोहे का प्रादुर्भाव काफी पूर्ववर्ती लगता है। नीचे हम लौह तकनीक के प्रसारण तथा काल निर्धारण पर प्रकाश डालेंगे—सर्वप्रथम उत्तरी-पश्चिमी पर, फिर दोआब पर; अंत में दक्षिणी क्षेत्र के उन्हीं स्थलों को लेंगे जिनके प्रमाण तिथि-निर्धारण की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

I. उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र

क. स्वात घाटी

स्टाकुल के नेतृत्व में इटली के पुरातत्ववेत्ताओं तथा दानी ने स्वात तथा बाजौर घाटी के अनेक क्षेत्रों का उत्खनन किया। यहाँ से अधिकांशतः शवाधान तथा अंत्येष्टि सामग्री उपलब्ध हुई। इसके आधार पर इतालवी विद्वानों (दानी की तिथियों के विपरीत) ने इन्हें तीन कालों, (I पुरातन, II मध्य, तथा III अर्वाचीन) में बांटा। इन कालों का उन्होंने गालीगाई अनुक्रम से निम्न संबंध स्थापित किया है :—

I काल पुरातन	=	V काल
II काल मध्ययुग	=	VI काल
III काल अर्वाचीन	=	VII काल

इस क्षेत्र में गंधार शवाधान संस्कृति के मुख्य स्थल लोएबाग्र, तीमारगढ़, बुटकारा, काटेलाई और गालीगाई हैं। स्टाकुल के मतानुसार चारसद्दा के सबसे प्रारंभिक स्तर की तुलना भी गालीगाई के काल V से की जा सकती है। इस काल की क़ब्रें खड़े पत्थरों व फर्श की बनी हैं। समकोण इमारतें, कुएँ, हस्त-निर्मित मृद्भांड व मुख्यत: ताम्र (व बहुत कम लोह) उपकरण भी मिले हैं। लोहे का मिलना स्टाकुल अपवाद समझते हैं। इस काल में शवाधानों की अपेक्षा मुर्दे जलाये जाते थे। उनके अनुसार इस काल की तीमारगढ़ क़ब्रें हैं : नं० 102, 104, 142, 149, 192, 197। क़ब्र नं० 101 के सामान का काल V निर्धारित किया गया है। स्टाकुल ने उस काल की समानता हसानलू लौह-युग के काल I प्रकाल 5 (लगभग 1300-1000 ई० पू०) और गालीगाई काल V से प्राप्त घुंडीदार पीठवाले धूसर भांड से की तथा काल VI की समानता हसानलू IV से की है। इस काल की बस्ती तथा कब्रें काल V के सदृश हैं। लेकिन इस काल में मुर्दों को जलाने की अपेक्षा उन्हें दफनाने की प्रथा अधिक प्रचलित थी। विविध प्रकार के चाकनिर्मित उत्कृष्ट धूसर मृद्भांड प्रचलित थे, जिन पर मुख्यत: ज्यामितिक डिजाइन उत्कीर्ण थे। इस काल से धातुओं में ताम्र ही मिला है। लोहा केवल चाकनिर्मित अलंकृत लाल मृद्भांडों के साथ काल VII से मिला। इस काल की अन्य विशेषताएं हैं : मानव मृण्मूर्तियां, व काफी मात्रा में लौह उपकरण। स्टाकुल इस काल की तुलना हसानलू IIIA और दीर, बुनेर और चितराल की क़ब्रों से करते हैं। इस प्रकार हसानलू के आधार पर काल VII का तिथि-निर्धारण लगभग 500-400 ई० पू० निर्धारित होता है।

यद्यपि स्वात घाटी की बहुत सी कार्बन तिथियां (तालिका 3) प्राप्त हैं, यहाँ हम केवल उन्हीं तिथियों को लेंगे जो गालीगाई काल V तथा उसके बाद के काल की है। लौह के उद्भव की तिथि निर्धारणार्थ, लोएबाग्र I और तीमारगढ कब्रों की पांच कार्बन तिथियां प्राप्त हैं। क़ब्र नं० 101 की अंत्येष्टि सामग्री के आधार पर स्टाकुल इसे काल V की बताते हैं। वास्तव में इस क़ब्र के प्रथम शवाधान में पूर्ण शव था, जो कि बाद के आंशिक शवाधान द्वारा विक्षप्त हो गया। इसकी दो तिथियां उपलब्ध हैं। प्रारंभिक शवाधान की तिथि 1530 ई० पू० व बाद की क़ब्र की 940 ई० पू० है। लोएबाग्र I की तीन

स्वात क्षेत्र के स्थलों की कार्बन तिथियाँ

स्थल		कार्बन तिथियाँ ई० पूर्व अर्धायु 5730 वर्ष			गालीगाई अनुक्रम पर आधारित
गाली गाई	17	R—379,	2422±55	काल I	नवाश्मीय
		R—379a,	2355±70	,,	
		R—380,	2376±140	,,	
,,	18	R—378a,	1923±55	काल II	सैंधव सादृश्यता
		R—377a,	1608±50	काल III	बुर्जाहोम I सादृश्यता
बुट कारा		R—194,	547±41	काल IV	
लोएबान्र	IT—28	R—276,	583±52	,,	
	T—87	R—278,	501±52	,,	बुर्जाहोम II सादृश्य
कोट लाई I	—39	R—279,	233±46	,,	
लोएबान्र	I, T—54	BM—195,	1120±154	काल V	
,,	T—61	BM—196,	985±154	,,	
तीमारगढ़ कब्र कब्रगाह	101,	?	1531±62	,,	न्यून मात्रा में लोहा
		?	940±62	,,	
लोएबान्र	I,T—21	R—474,	510±72		
काटे लाई	I,T—48	R—477,	1006±62		
,,	T—48	R—477a,	872±52		अनिश्चित
,,	T—64	R—476,	1294±154		सांस्कृतिक
,,	T—39	R—479,	367±52		कालानुक्रम
बुरामा	I, 5 A	R—195,	440±46		
,,	8	R—196,	712±83		

तालिका 3

स्वात घाटी तथा बाजौर क्षेत्र के नवाश्मीय
तथा उत्तरकालीन स्थलों की कार्बन तिथियाँ

तिथियां BM-195,-196 और R-474 हैं। इन पांच तिथियों में से तीन लगभग 1000 ई० पू० के आसपास बैठती हैं। अतः हम स्वात घाटी में लौह के उद्‌भव की तिथि इसी काल में मानते हैं। ईरान के प्रारंभिक स्थलों के लौह युग की तिथि (1200-1000 ई० पू०) से यह तिथि ठीक बैठती है। परंतु यह कार्बन तिथियां काल V में लौह उपकरणों के प्रथम आगमन को ही निर्धारित करती है। अतः स्टाकुल काल VII (लगभग 500-400 ई० पू०) को ही पूर्ण विकसित लौह युग मानता है। इस मत के विपरीत दानी कहते हैं कि चूंकि टुक्सी ने इन्हें अश्वकायन-अस्सकानोइ का शवाधान माना, सभी इटालवी पुराविद इनकी तिथि चौथी शताब्दी ई० पू० तक लाने का प्रयास करते हैं। वे स्टाकुल की चारसद्दा की सामग्री से तुलना पर शंका व्यक्त करते हुए कहते हैं कि विभिन्न संस्कृतियों की सामग्री को बेतरतीब तुलना करने से समस्या और उलझ जाती है जैसा कि इस समस्या के साथ हुआ।

दानी ने तीमारगढ़ लौह युग को दो कालों III और IV में बांटा है। काल IV की विशेषताएँ हैं—विविध प्रकार के शवाधान, लौह उपकरण मानव लघु मृण्मूर्तियां, लाल और धूसर दोनों प्रकार के मृद्‌भांड। वे काल IV को (स्टाकुल के) गालीगाई काल III के समकक्ष रखते हैं। यद्यपि स्वात में लोहा अल्प मात्रा में मिला, तीमारगढ़ काल III में अपेक्षाकृत अधिक प्रचलित हो गया था। दानी इस काल की तुलना स्टाकुल के काल IV से करते हैं जिसकी तिथि 940 ± 62 ई० पू० है। इस आधार पर दानी का काल IV गालीगाई के काल VIII—के समतुल्य हुआ।

इस स्तर पर, लोहे के उपकरणों की संख्या तथा उनके आर्थिक महत्व की बहस को छोड़ हम संक्षेप में कह सकते हैं कि इस क्षेत्र में लोहे का उद्‌भव लगभग 1000 ई० पू० हुआ।

ख. बलूचिस्तान

स्वात के दक्षिण में बलूचिस्तान के अनेक स्थलों से स्टाइन तथा ओकलन को संगोरा शवाधान मिले। मुग़ल घुंडई के संगोरा शवाधान के साथ पत्ते के आकार के, छोटे, नुकीले, तिकोने, कटीले बाणाग्र, कटार और चाकू मिले। जीवनरी से एक मोटा लोहे का मत्स्य कांटा मिला। इसी समूह के अन्य स्थल जाम्गोयान और नसीराबाद हैं। इन संगोरा शवाधानों के विशेषक हैं—टोंटीदार और हत्थेदार सुराही, त्रिभागी बाणाग्र और हस्तनिर्मित मृद्‌भांड। लौंडो मृद्‌भांडों के समान इन भांडों पर सर्पिल या पाश रूप के डिजाइन बने हैं।

जिनकी संकालिया ने भाग्री तथा टोगाउ के प्रारंभिक काल के डिजाइनों से तुलना की है। भल्चिन के विचार से यह डिजाइन एक ऐसा काकेशियन प्रभाव है, जिसे आर्यों के साथ जोड़ा जा सकता है। बनर्जी हड़प्पा संस्कृति के विजेताओं की संस्कृति को इस प्रकार के हीन उत्तराधिकारियों के अवशेषों को मानने के विरुद्ध हैं। स्यालक B से सादृश्य के आधार पर पिग्गट इन शवाधानों का काल लगभग 1100-1000 ई० पू० निर्धारित करते हैं, बनर्जी लगभग 800 ई० पू० व अल्चिन लगभग 1100 से 750 ई० पू० के बीच। स्यालक B कालानुक्रम के पुन: सिंहावलोकन के आधार पर गिर्शमान इसे लगभग 900 ई० पू० की तिथि देते हैं। हमारे मतानुसार इन संगोरा शवाधानों की तिथि स्यालक B से कुछ बाद की, लगभग 800 ई० पू० है। अभी तक इनकी कोई भी कार्बन तिथि प्राप्त नहीं हुई।

पिराक ढंब की विशिष्टताएँ हैं : दूधिया या पांडु स्लिप पर द्विरंगी चित्रण, तिरछे, अनेक प्रकार के त्रिभुज, जटिल जालीदार डिजाइन का अलंकरण। अधिकांश सादे मृद्भांड हस्तनिर्मित हैं। राइक्स इसकी तुलना सामार्रा के स्तर (ईराक), निनेवेह III और अर्पाचियाह से करते हुए इस संस्कृति की तिथि लगभग 5000 ई० पू० बताते हैं। अधिकांश लोग इतनी पूर्ववर्ती तिथि पर शंका व्यक्त करते हैं। यद्यपि डेल्स इसके मृद्भांडों में पूर्ववर्ती छाप देखते हैं तो भी वह इसे अपने चरण D के अंतर्गत ही रखते हैं। कज़ाल इसका काल 1000 ई० पू० से पूर्ववर्ती नहीं समझते। इसके ऊपरी स्तरों से लौह उपकरण मिले हैं।

हमने पिराक के ऊपरी स्तरों के तीन नमूनों को मापा (तालिका 7) जो कज़ाल के अनुसार प्रथम सहस्राब्दी के हैं। इनकी तीन सुसंगत कार्बन तिथियाँ (TF-861-1108 और—1109) हैं। इनकी औसत तिथि लगभग 800 ई० पू० थी, जो कि कजाल के अनुमान को पुष्ट करती है।

II. उत्तरी व पूर्वी भारत

इस शीर्ष के अंतर्गत हम उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल की लौह संस्कृतियों की विवेचना करेंगे। पश्चिमी दोआब में लोहा चि० धू० मृद्भांड के साथ और बिहार तथा बंगाल में काले-लाल मृद्भांड के साथ सर्वप्रथम प्राप्त हुआ। पश्चिमी एशिया से इनके कोई भी पुरातात्विक समतुल्य प्रमाण नहीं मिले। अतः हमारी विवेचना स्तरविन्यास तथा साहित्यिक तथ्यों पर आधारित है।

क. चि० धू० मृद्भांड संस्कृति का कालानुक्रम

लाल के मतानुसार हस्तिनापुर में काल III पर्याप्त लंबे अंतराल के बाद आया। इस अंतराल काल में चि० धू० मृद्भांड पूर्णतः विलुप्त हो गया तथा एन० बी० पी० प्रचलित हो गयी। साथ ही सादे धूसर मृद्भांड का ह्रास भी शुरू हुआ। कच्ची मिट्टी की ईंटों के स्थान पर पक्की मिट्टी की ईंटें प्रयुक्त होने लगीं तथा लौह के साथ मुद्रा का चलन भी हुआ। अतः इन सब परिवर्तनों के लिए लगभग दो सौ साल लगे होंगे। लाल के अनुसार चि० धू० मृद्भांड का अंत हस्तिनापुर में लगभग 800 ई० पू० हुआ और एन० बी० पी० का प्रारंभ लगभग 600 ई० पू०। काल II के 2.1 मीटर आवासी निक्षेप को 300 साल देकर चि० धू० मृद्भांड के प्रादुर्भाव की तिथि लाल लगभग 1100 ई० पू० निर्धारित करते हैं।

तिथि निर्धारण में चि० धू० मृद्भांड और एन० बी० पी० के साथ मिलने वाले लाल भांडों के आकारों का अध्ययन भी महत्वपूर्ण है, वस्तुतः समय के साथ लाल सादे भांड के आकार में चि० धू० भांड एवं एन० बी० पी० की अपेक्षा अधिक परिवर्तन हुए। अतरंजीखेड़ा में चि० धू० भांड केवल 3-10% तथा हस्तिनापुर में भी परिमाण की दृष्टि से अधिक नहीं मिले जबकि काल III से एन० बी० पी० के केवल 101 ही ठीकरे मिले।

लाल ने चि० धू० मृद्भांड को संभवतः हड़प्पा संस्कृतिक के अंत तक पहुँचाने के लिए प्रत्येक अंतराल को एक लंबा समय दिया, जिस पर गौर्डन तथा व्हीलर दोनों ने शंका व्यक्त की है। गौर्डन काल IV की तिथि 50 ई० पू० से 400 ई० के बीच रखते हैं तथा एन० बी० पी० का कालानुक्रम अधिकतम 400 ई० पू० रखते हैं। गौर्डन चि० धू० मृद्भांड की 700 और एन० बी० पी० के प्रारंभ की 350 ई० पू० तिथि निर्धारित करते हैं। व्हीलर के विचार से यदि गंगा की घाटी में एन० बी० पी० को पाँचवीं सदी ई० पू० रखा जाय तो चि० धू० भांड का प्रारंभ आठवीं ई० पू० निर्धारित किया जा सकता है।

लाल ने निम्न आधारों पर चि० धू० मृद्भांड का तिथि-निर्धारण किया था।

(i) हस्तिनापुर की बाढ़ को महाभारत की घटनाओं से संबंधित करना।
(ii) चि० धू० मृद्भांड स्तर से लोहे का न मिलना।
(iii) चि० धू० मृद्भांड तथा एन० बी० पी० के मध्य का अंतराल।
(iv) एन० बी० पी० की प्रारंभिक पूर्ववर्ती तिथि।

हस्तिनापुर में इस संस्कृति को महाभारत की घटनाओं से जोड़ना इस समय तक विवादास्पद ही है। टंडन को आलमगीर से, गौड़ को अतरंजीखेड़ा तथा लाल और पांडे को अपने ही बाद के उत्खनन से हस्तिनापुर से चि० धू० भांड स्तरों से लोहा प्राप्त हुआ। अतः अब सर्वमान्य है कि चि० धू० भांड एक लौह युगीन संस्कृति थी।

हड़प्पा तथा चि० धू० भांड के मध्य एक लंबा अंतराल है। काले-लाल भांड उत्तर प्रदेश में अभी भी एक पहेली है। लेकिन गौड़ द्वारा अतरंजीखेड़ा के उत्खनन से महत्वपूर्ण तथ्य सामने आया कि एक विशिष्ट प्रकार के काले-लाल भांड ने चि० धू० भांड का स्थान ले लिया। चि० धू० भांड के पश्चात् एक बड़ी बाढ़ के निशान मिलते हैं। हस्तिनापुर के अंत की कहानी इससे सटीक बैठती है। लाल ने पुराणिक तथ्यों के आधार पर कहा कि जब हस्तिनापुर को गंगा बहा ले गयी तो निचक्षु ने इसे त्याग दिया और कौशांबी आकर बस गये। यहाँ पर इस बाढ़ के प्रकोप के बाद एन० बी० पी० का काल प्रारंभ होता है जब कि अन्य स्थलों पर जैसे अतरंजीखेड़ा, श्रावस्ती आदि में चि० धू० भांड और एन० बी० पी० की भांड परंपरा के मध्य निरंतरता मिलती है। अतः हस्तिनापुर के अंतराल को केवल स्थानीय ही समझना चाहिए। इसी सिलसिले में हम चि० धू० भांड तथा एन० बी० पी० के केन्द्रीय तथा परिधीय क्षेत्रों तथा संबंधित लाल प्रकार के भांडों की विवेचना करेंगे।

चि० धू० भांड एक विस्तृत क्षेत्र में सिंध के लखियापीर से गिलूंद तक और कन्नौज और रोपड़ तक मिला है। दूसरी ओर एन० बी० पी० दक्षिण में ब्रह्मपुरी से लेकर उत्तर में रोपड़ तक, पश्चिम में प्रभास पाटन से पूर्व में बानगढ़ और चंद्रकेतुगढ़ तक। अतः कहा जा सकता है कि चि० धू० भांड का विस्तार मुख्यतः उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में था, तो एन० बी० पी० का संभवतः बिहार में। बिहार के लौह अयस्कों का विस्तृत उपयोग तथा एन० बी० पी० का प्रसार संभवतः संबंधित था। इस संदर्भ में एन० बी० पी० की विशिष्ट प्रकार की लौह सदृश्य कांचाभ स्लिप लोह संबंध की सूचक सी लगती है।

उपर्युक्त विवेचना के आधार पर निम्नलिखित संभावनाएँ उभरती हैं—

(i) दोआब के मूलभूत लाल भांड क्षेत्र में चि० धू० भा० ने पश्चिमी से और एन० बी० पी० भांड ने पूर्व से अतिक्रमण किया।

(ii) कुछ विशिष्ट लाल भांडों के आकार पश्चिम में चि० धू० भांड के साथ और पूर्व में एन० बी०पी० भांडों के साथ मिलते हैं। यह तथ्य उनके बीच समकालीनता दर्शाता है और साथ ही चि०धू० भांड का प्रारंभ पूर्ववर्ती होना भी।

(iii) जिस क्षेत्र में चि० धू० भांड और एन० बी० पी० साथ मिलते हैं वहाँ पर एन० बी० पी० चि० धू० भांड के बाद आती हैं। यह तब संभव हुआ जब दोआब के जंगल साफ हो चुके थे और कोई पारिस्थितिकीय व्यवधान न रहा था।

(iv) राजघाट, वैशाली और कौशांबी का घटिया व अनगढ़ चि० धू० भांड पश्चिमी क्षेत्रों की अपेक्षा पूर्ववर्ती है।

(v) पूर्व के अपने समकक्ष भांडों की अपेक्षा पश्चिम और दक्षिण के एन० बी० पी० का काल परवर्ती है। इसकी पुष्टि पश्चिम में एन० बी० पी० के साथ पूर्व के एन० बी० पी० परवर्ती लाल भांडों के मिलने से होती है।

(vi) यदि तिलोराकोट (नैपाल), श्रावस्ती तथा कन्नौज के मध्य सीधी रेखा खींची जाय तो यह चि० धू० भांड तथा एन० बी० पी० संस्कृतियों को दो विशिष्ट क्षेत्रों में विभाजित करेगी।

संपूर्ण भांड परिमाण में चि० धू० मांड तथा एन० बी० पी० की मात्रा बहुत कम है। यह इस बात का द्योतक है की ये भांड एक प्रकार शाही पात्र (deluxe ware) थे। पूरी सांस्कृतिक सज्जा का अध्ययन आवश्यक है, जो पूरे क्षेत्र तक पहुँचे।

हस्तिनापुर में नासपाती के आकार के पात्र (अहिच्छत्र 10A प्रकार), किनारेदार (Carinated) हांडी, छोटे कटोरे वाले लाल मृद्भांड हस्तिनापुर, अहिच्छत्र तथा प्रकाश में एन० बी० पी० के साथ मिले। लेकिन यही आकार श्रावस्ती तथा राजघाट में उत्तर कालीन एन० बी० पी० के साथ हैं। जबकि हस्तिनापुर काल II के लाल भांड के आकार श्रावस्ती में एन० बी० पी० भांड के साथ, व राजगीर और वैशाली में भी मिले हैं। सिन्हा के मतानुसार लहरदार कटोरे इस बात की पुष्टि करते हैं कि चि० धू० भांड काली स्लिप वाले भांड और एन० बी० पी० आधारभूत रचना की दृष्टि से एक ही परंपरा का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस दृष्टि से काल का अंतराल महत्वपूर्ण नहीं रहता। लेकिन निम्नलिखित तथ्य इस मत के विपरीत पड़ते हैं। (ii) मूलभूत रूप से चि० धू० भांड और एन० बी० पी० के वितरण क्षेत्र भिन्न हैं; (ii) चि० धू० भांड पर विशिष्ट चित्रण हैं; (iii) चि० धू० भांड के निर्माण में विशिष्ट प्रकार का धूसर रंग देने के लिए ताप व हवा को नियंत्रित किया गया (iv) एन० बी० पी० भांड में विशिष्ट प्रकार की कांचाभ स्लिप है। दोनों भांडों में रचना की समानता इन भांडों में दोआब की समान जलोढक मिट्टी के प्रयोग के कारण है। अतः हस्तिनापुर में चि० धू० भांड और एन० बी० पी० का अल्पकालीन

अनुक्रमण आंशिक रूप से सही हो सकता है। यदि वितरण क्षेत्रों को भी ध्यान में रखा जाय तो इन दो भांडों को कुछ सदियों तक समकालीन माना जा सकता है।

लौह प्रयोग, आंशिक रूप से एन० बी० पी० की समकालीनता तथा दोआब में नागरीकरण के प्रारंभिक चरण में मिलने के कारण, चि० धू० भांड को ताम्राश्मीय संस्कृति के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। चि० धू० भांड के प्रारंभिक काल की तिथि 1100 ई० पू० की अपेक्षा पुरातात्त्विक प्रमाणों के आधार पर लगभग आठवीं सदी ई० पू० निर्धारित की जा सकती है, जो कि व्हीलर के अनुमान (लगभग 800-500 ई० पू०) से भी ठीक बैठती है।

राजस्थान में नोह तथा यू० पी० में अतरंजीखेड़ा और हस्तिनापुर के चि० धू० भांड स्तर से कार्बन की 14 तिथियाँ (तालिका 4) प्राप्त हैं। यद्यपि कायथा तथा अहिच्छत्र से भी (लगभग 400 ई० पू०) अनेक कार्बन तिथियाँ प्राप्त हैं पर उनका चि० धू० भा० से संबंध निश्चित न होने के कारण महत्व नहीं है। नोह में इस भांड की प्रारंभिक तिथि TF-993, 725 ±150 और UCLA-703 B, 820± 225 के अनुसार लगभग 800 ई० पू० निर्धारित की जा सकती है। हस्तिनापुर की कार्बन तिथियों के अनुसार इस संस्कृति का अंत लगभग चार सदी ई०पू० है। अतरंजीखेड़ा से छठी सदी ई०पू० की दो अन्य तिथियाँ शायद और हैं (विदेशी प्रयोगशालाओं से). TF-191,1025±110 प्राचीन तिथि होने के कारण अन्य तिथियों से असंगत है। ये तिथियाँ हस्तिनापुर तथा अतरंजीखेड़ा की अपेक्षा नोह में इस संस्कृति की तिथि और पहले निर्धारित करती है। कार्बन तिथियाँ इस संस्कृति के कालविस्तार को लगभग 800 से 350-400 ई० पू० के मध्य सीमित करती हैं।

स. एन० बी० पी० मृद्भांड संस्कृति का कालानुक्रम

भारत में कार्बन तकनीक के प्रयुक्त होने से पूर्व समझा जाता था कि एन० बी० पी० भांड लगभग 600 से 300 ई० पू० प्रचलित थे। और ये प्रमाण पुरातात्त्विक कालानुक्रम के लिए प्रयुक्त होते थे। सर्वप्रथम हम दोआब के महत्त्वपूर्ण स्थल हस्तिनापुर से अपना सर्वेक्षण प्रारंभ करते हैं।

काल III के अंत के पश्चात्, काल IV में, लाल के अनुसार लगभग 200 ई० पू० मथुरा में मुद्रा प्रचलित हुई। काल III तथा IV के मध्य, लाल 100 वर्ष का अंतराल बताते हैं। हस्तिनापुर-I में 1·5 से 2.7 और हस्तिनापुर II में 2·7 मीटर के निक्षेप के आधार पर वे काल III के छह प्रकाल निर्धारित करते

चित्रित धूसर भांड स्थलों की कार्बन तिथियाँ

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई० पूर्व (अर्धायु 5730 वर्ष)
नोह (राजस्थान)	TF-1144, 490±90
	UCLA-703A, 605±260
	TF-993, 725±150
	UCLA-703B, 820±225
हस्तिनापुर (उत्तर प्रदेश)	TF-83, 335±115
	TF-112, 375±100
	TF-90, 390±115
	TF-85, 505±130
	TF-91, 570±125
अतरंजीखेड़ा (उत्तर प्रदेश)	TF-291, 535±100
	TF-191, 1025±110
जखौमा (उत्तर प्रदेश)	TF-1228, 530± 95

तालिका 4—चित्रित धूसर भांड स्थलों की कार्बन तिथियाँ

हैं। प्रत्येक प्रकाल की अवधि 50 वर्ष मानकर वे काल III का संपूर्ण काल विस्तार 300 वर्ष बताते हैं। इस प्रकार एन० बी० पी० की संस्कृति का प्रारंभ लगभग 600 ई० पू० निर्धारित करते हैं जबकि गोर्डन सिक्कों व मृण्मूर्तियों के आधार पर इस संस्कृति की उच्चतम सीमा लगभग 400 ई० पू० मानते हैं।

अपने मत की पुष्टि में लाल ने कौशांबी के प्रमाणों का उद्धरण दिया। वहाँ पर प्राकृतिक मिट्टी के ऊपर तीन सतहों (स्तर 24 से 27 तक) से चार धूसर ठीकरें मिले। इन स्तरों के ऊपर 6′ से 7′ मोटी ऊसर मिट्टी थी। इस ऊसर तह के ऊपर 8 से 16 स्तर से एन० बी० पी० भांड मिले। इन स्तरों की कुल मोटाई आठ फुट थी। इनके छह आवासी प्रकालों से कच्ची या पक्की ईंटों की इमारतों के अवशेष मिले। सातवीं सतह के बाद कौशांबी के मित्र वंश के सिक्के मिले जिन्हें दूसरी सदी ई० पू० का बताया गया है। जिसके अनुसार एन० बी० पी० काल का अंत दूसरी सदी के प्रारंभ में हुआ होगा। इसके पहले के आठ आवासी प्रकालों को ध्यान में रखते हुए लाल ने कौशांबी में एन० बी० पी० का प्रारंभ छठी ई० पू० निर्धारित किया। एन० बी० पी० की प्रारंभिक तिथि के निर्धारणार्थ लाल ने तक्षशिला के प्रमाण भी प्रस्तुत किये। सिरकाप के प्रारंभिक स्तर से प्राप्त दो एन० बी० पी० के ठीकरें मिले, जिनमें से एक का काल लगभग 200 ई० पू० है, जबकि दूसरा ठीकरा अस्तरित है। भीर टीले के 13 ठीकरों में 12 केवल 2-4 मीटर की गहराई से मिले। सिकंदर का एक एकदम नया (बिना घिसा हुआ) सिक्का सतह से 2 मीटर की गहराई से मिला। इस आधार पर 2.1 मीटर गहरे निक्षेप की तिथि लगभग 300 ई० पू० तथा उसके नीचे 2 मीटर के मलवे को और 300 वर्ष का काल देकर, एन० बी० पी० का काल लगभग 600 ई० पू० रखा गया है। लाल ने भीड़ टीले के 2.1 मीटर, कौशांबी के 2.4 मीटर और हस्तिनापुर में 2.7 मीटर की मलवे की अलग-अलग सब गहराइयों को एकसा 300 वर्ष का काल दिया है।

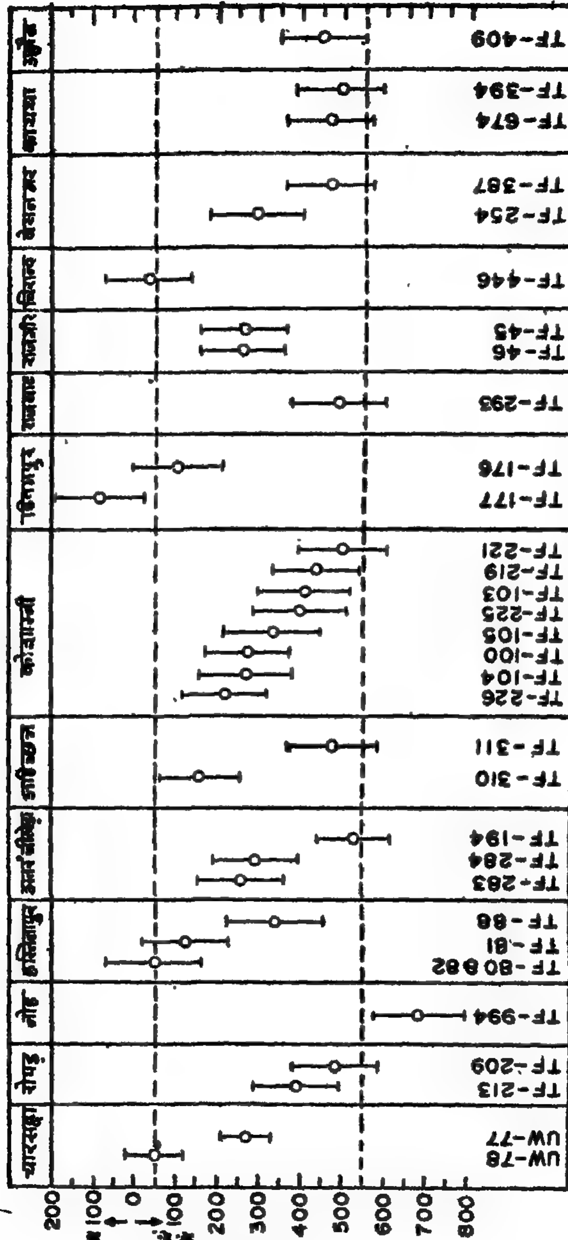
इन्हीं प्रमाणों का विश्लेषण करते हुए व्हीलर का कथन है कि चूंकि तक्षशिला का स्तर विन्यास पद्धति से उत्खनन नहीं हुआ था, अतः यह गहराइयां कोई खास माने नहीं रखतीं। उनके विचार से एन० बी० पी० का काल 5 से 2 सदी ई० पू० निर्धारित होना चाहिए। चारसद्दा और उदेग्राम के प्रमाणों के आधार पर वे उत्तर पश्चिमी एन० बी० पी० काल को 320-150 ई० पू० रखते हैं, परंतु यह मानते हुए कि दोआब में यह तिथि कुछ पहले की भी हो सकती है।

एन० बी० पी० तिलौराकोट से दक्षिण-पश्चिम में प्रभास पाटन तक और चारसद्दा (पेशावर) से नासिक और ब्रह्मपुरी तक मिलती है। थापड़ तथा व्हीलर के अनुसार एन० बी० पी० का प्रसार मौर्य काल में हुआ होगा, पर इसके विपरीत सिन्हा समझते हैं कि गंगा के दोआब में इसका चलन मौर्य काल से कहीं पहले हुआ, तथा 300 ई० पू० के पश्चात् इसका चलन बहुत कम हो गया। कुमराहार (प्राचीन पाटलिपुत्र) से एन० बी० पी० का न मिलना, इस भांड का संबंध केवल मौर्य काल-से ही होने के विरुद्ध जाता है। जबकि दूसरी ओर राजबीर (मौर्यकाल से पहले) से पर्याप्त मात्रा में एन० बी० पी० भांड मिले हैं। सिन्हा के विचार से इसके प्राथमिक क्षेत्र कौशांबी, राजगीर वैशाली तथा श्रावस्ती थे। हस्तिनापुर, रोपड़, उज्जैन, कुमराहार, आदि द्वितीयक क्षेत्र थे। तक्षशिला व्यापार केन्द्र होने के कारण प्राथमिक क्षेत्र माना गया है। अतः उनके अनुसार केवल एन० बी० पी० का निश्चित तिथि निर्धारण के लिए विशेष महत्व नहीं, इसलिए अन्य सामग्री का भी अध्ययन आवश्यक है। यह भांड बड़ी मात्रा में केवल प्राथमिक स्थलों से ही पाया गया है।

हम एन०बी०पी० के आगमन को दोआब के मानसूनी जंगलों की सफाई व कृषि उत्पादन के साथ जोड़ते हैं। यह विकास बिहार के लोहे की प्राप्ति तथा लोह उपकरणों के प्रसार के साथ जुड़ा है। एन०बी०पी० का प्रसारण मुख्यतः दो प्रकार से हुआ (i) व्यापार या व्यापारियों द्वारा; व (ii) एन०बी०पी० संस्कृति के प्रसार के साथ। उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ के व्यापारिक मार्गों पर स्थित स्थलों में हम काल की दृष्टि से इसे प्राथमिक क्षेत्रों के समकक्ष रख सकते हैं। लोहे के बढ़ते हुए प्रयोग के साथ दोआब में बड़े पैमाने पर कृषि उत्पादन ही यहाँ पर नागरीकरण प्रारंभ का कारण है। एन०बी०पी० संस्कृति के व्यापन की गति स्वाभाविक रूप से धीमी रही होगी क्योंकि ये प्रक्रियाएँ धीमी थीं।

एन०बी०पी० का श्रावस्ती में पहले मिलना और हस्तिनापुर में बाद को, इस परिकल्पना की पुष्टि करता है। हस्तिनापुर में चि०धू० भांड संदर्भित लाल भांड श्रावस्ती तथा पूर्व में एन०बी०पी० के साथ मिलते हैं। पूर्वी दोआब तक पहुँचते-पहुँचते चि०धू० भांड भनगढ़ व मोटे हो गये। उस पर काली रेखाएँ ऐसी लगती हैं जैसे स्याही फैली हो। पूर्व में ये धू० भांड इतने भिन्न हैं कि इन्हें चि० धू० भांड की संज्ञा देना ही गलत होगा।

उपर्युक्त सर्वेक्षण से स्पष्ट होता है कि दोआब के पूर्वी प्राथमिक क्षेत्रों में ही वास्तविक एन०बी०पी० भांडों का प्रचलन था। एन०बी०पी० भांड निश्चित



आरेख 10—एन० बी० पी० स्थलों की कार्बन तिथियाँ

एन० बी० पी० मृद्भांड स्थलों की कार्बन तिथियाँ

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई० पूर्व (अर्धायु 5730 वर्ष)	स्थल	कार्बन तिथियाँ ई० पूर्व (अर्धायु 5730 वर्ष)
चारसद्दा (पाकिस्तान	UW-78, 50±70 UW-77, 270±60	कौशांबी (उत्तर प्रदेश)	TF-226,220±100 TF-104,270±110 TF-100,275±100 TF-105,335±115 TF-225,400±110 TF-103,410±110 TF-219,440±100 TF-221,500±105
रोपड़ (पंजाब)	TF-213,290±105 TF-209,485±100		
नोह (राजस्थान)	TF-994,685±105	हेतिमपुर (उत्तर प्रदेश)	TF-177, 80±105 A.D. TF-176,105±105
हस्तिनापुर (उत्तर प्रदेश)	TF-80 + TF-82, 50±115 TF-81, 125±100 TF-88, 340±115	राजघाट (उत्तर प्रदेश)	TF-293,490±110
		राजगीर (बिहार)	TF-46, 260±100 TF-45, 265±105
		चिरान्द (बिहार)	TF-446, 35±105
अतरंजीखेड़ा (उत्तर प्रदेश)	TF-283,260±105 TF-284,295±100 TF-194,530±85	बेसनगर (मध्य प्रदेश)	TF-254,295±110 TF-387,470±105
		कायथा (मध्य प्रदेश)	TF-674,470±100 TF-394,495±100
अहिच्छत्र (उत्तर प्रदेश)	TF-310,160± 95 TF-311,475±105	उज्जैन (मध्य प्रदेश)	TF-409,450±95

तालिका—5 एन० बी० पी० मृद्भांड स्थलों की कार्बन तिथियाँ।

ही पूर्व-मौर्य व बुद्ध कालीन रहे होंगे जबकि पश्चिमी क्षेत्रों में यह मौर्य काल या उससे थोड़ा पहले प्रचलन में आये होंगे । दूरस्त प्रदेशों में यह ईसा की प्रारंभिक सदी तक प्रचलित रही । उत्तरापथ तथा दक्षिणापथ के स्थलों में इस संस्कृति का अधिक काल विस्तार होगा और इसकी शुरुआत प्राथमिक केन्द्रों के साथ ही हुई होगी ।

हमने अब तक विभिन्न एन०बी०पी० भांड स्थलों की 32 कार्बन तिथियां मापी (आरेख 10, तालिका 5) हैं । अधिकांश कार्बन तिथियों का विस्तार 550 से 50 ई० पू० के बीच है । पश्चिमी दोआब में TF-283, TF-284, TF-88 नमूनों द्वारा हस्तिनापुर और अतरंजीखेड़ा में इसका प्रारंभ 350-300 ई० पू० हुआ है । TF-311 अहिच्छत्र से तथा TF-194 अतरंजीखेड़ा के नमूने हैं । उत्खनक के विवरण के अनुसार इस स्तर पर चि०धू० भांड व एन०बी०पी० भांड साथ-साथ मिलते हैं । कौशाम्बी की कई तिथियों का काल व्यापन 500 से 200 ई० पू० बैठता है । राजघाट की तिथि TF-293 के अनुसार लगभग 500 ई० पू० है । चारसद्दा की तिथि UW-77 और-78 थोड़ी परवर्ती है जैसा कि स्वाभाविक है । रोपड़ की दो तिथियों का औसत लगभग 400 ई०पू० दिया जा सकता है । यह बड़ी दिलचस्प बात है कि बेसनगर, कायथा और उज्जैन के चार नमूनों TF-387,-674,-394,-409 की तिथियां लगभग 450 ई०पू० बैठती हैं । ये सभी स्थल दक्षिणापथ पर पड़ते हैं । इन तिथियों से लगता है कि लगभग पांचवीं सदी ई० पू० में ही लंबी दूरियों पर स्थित स्थलों से व्यापार शुरू हो गया था ।

ग. काले-लाल मृद्भांड संस्कृतियां

बिहार तथा पश्चिमी बंगाल में ताम्राश्मीय संस्कृति व्याप्त थी जिसकी मुख्य विशेषता काले-लाल भांड थे । चिरांद में लोहा काल IIB में प्रकट हुआ । लेकिन इस संस्कृति की अन्य काल IIA विशेषताएं पूर्ववत रहीं । यही क्रम हम पांडुर राजार ढीबी और महिषदल (बंगाल) में पाते हैं । यद्यपि महिषदल के काल II से लोहा तथा प्रगलन के प्रमाण मिले हैं, काल II को काल I से प्राप्त धूसर भांड तथा भांडों की अनगढ़ता के कारण अलग किया गया है ।

इन पूर्वी स्थलों से केवल तीन कार्बन तिथियां (तालिका 7) मिली हैं । सोनपुर (बिहार) में लोहा काले-लाल भांडों के साथ मिला है जिसकी तिथि 635±110 ई०पू० है । चिरांद काल II के नमूने TF-336 की 765±100 ई०पू० व महिषदल के नमूने TF-389 की तिथि 690±105 ई०पू०

है। इन सुसंगत तिथियों के अनुसार इस क्षेत्र में लौह युग के प्रारंभ की तिथि लगभग 700 ई०पू० रखी जानी चाहिए।

III भारत के दक्षिणी प्रायद्वीप का लौह युग

दक्षिण के महाश्मीय लौह युग पर विचार करने से पूर्व हम मध्य तथा उत्तरी दक्कन के पूर्व-एन०बी०पी० लौह स्थलों की विवेचना करेंगे। मध्य भारत के पूर्व-एन०बी०पी० स्तर से लोहे के उपकरण नागदा, उज्जैन, एरण तथा उत्तरी दक्कन में प्रकाश तथा बाहल से मिले हैं। नागदा के काल I का साहश्य मालवा संस्कृति से है। बनर्जी के अनुमान से आवासी निक्षेप के एकत्र होने की दर 30 से० मी० प्रति 40 वर्ष है। जिसके अनुसार नागदा काल II की तिथि लगभग 750 ई०पू० है। काल II में यद्यपि लोहा प्रयोग होने लगा तो भी काल I के ही मृद्भांड प्रकार और लघु-अश्म प्रचलित रहे। हमारे विचार से इस आधार पर नागदा काल II की तिथि लगभग 900-800 ई०पू० निश्चित की जा सकती है। उज्जैन के काल I से लौह उपकरण उपलब्ध हुए हैं। काल II का एन०बी०पी० से संबंध होने से उसकी तिथि लगभग 450 ई० पू० निश्चित की गयी है। काल I के 2 मीटर गहरे निक्षेप से बनर्जी के अनुसार कुछ चि०धू० भांड तथा दोहरी स्लिप वाले लाल भांड मिले (जो अहिच्छत्र में चि०धू० भांड के साथ मिला है)। इस गणना के अनुसार हम उज्जैन काल I की अ तिथि लगभग 700 ई० पू० रखेंगे। लघु अश्मों तथा चित्रित लाल मृद्भांडों की अनुपस्थिति के कारण उज्जैन काल I को नागदा काल II के बाद रखा जाना चाहिए। प्रकाश से 4 मीटर गहरे निक्षेप एन० बी०पी० भांडों के स्तर से पहले का मिलता है। इस स्तर से लोहा मिला है। प्रकाश काल I को यदि मालवा संस्कृति का परिधीय स्थल भी मानें तो काल II को प्रथम सहस्त्राब्दी ई०पू० के प्रारंभ में रख सकते हैं। बाहल के लौह-युग की तिथि भी लगभग यही होगी। देशपांडे को टेकवाडा में एक विशिष्ट प्रकार का शवाधान मिला जिसका फर्श पत्थरों का था। शवाधान में महाश्मीय काले-लाल तथा जोर्वे मृद्भांड रखे मिले। उपर्युक्त सर्वेक्षण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि दक्कन में लोहे का प्रादुर्भाव जोर्वे संस्कृति के अंतिम काल में हुआ।

दक्षिणी प्रायद्वीप में विविध प्रकार के महाश्मीय स्थल हैं। दूर दक्षिण के मालाबार तट-प्रदेश में शवाधान के लिए लेटराइट चट्टानों को काटकर कक्ष बनाये गये थे जो कि पत्थर से ढके हुए थे। मैसूर में सिस्ट (Cist) कब्रें ग्रेनाईट

पत्थर की बनी थीं जिन पर, कुछ पर, गवाक्ष, (port-holes) बने थे। कब्रें एक या अधिक पत्थरों से ढकी थीं। अंत्येष्टि सामग्री सिस्ट के अंदर तथा बाहर मिली। ये सिस्ट अधिक गहराई में नहीं गाड़े जाते थे। कुछ नंगी चट्टानों के ऊपर भी बनाये गये थे। गाड़े हुए सिस्ट के चारों ओर एक से तीन तक पत्थरों के वृत्त बनाये जाते थे। एक अन्य प्रकार के खुले गर्त में शव के मांस को गलने के लिए छोड़ दिया जाता था। तत्पश्चात् गर्त को ढक कर पत्थर का वृत्त बना दिया जाता था। एक दूसरे प्रकार में महाश्म खड़े पत्थरों की कतार से चिह्नित किये गये। जिनमें कभी-कभी 6 मीटर से भी ऊंचे पत्थर लगाये जाते थे। गुलबर्गा जिले से इस प्रकार के सैकड़ों महाश्म मिले हैं। हड्डियों को अस्थि-कलशों में रखकर गर्त में दबाने की प्रथा भी प्रचलित थी। इन पर कभी-कभी पत्थरों के वृत्त भी बना दिये जाते थे। इस प्रकार के शवाधान पूर्वी तट पर आमतौर से प्रचलित थे। विविध प्रकार के अस्थि-कलशों पर पाये भी लगे थे। इसलिए इन्हें शव-पेटिका (Sarcophagi) कहा जाता है। इनमें से कुछ पर ही जानवरों के सिर बने मिले। उपर्युक्त मुख्य महाश्मों के अतिरिक्त कुछ अन्य छोटे प्रकार के भी महाश्म प्रचलित थे।

महाश्मों के विविध प्रकार होने के कारण उनका वर्गीकरण करना कठिन है। दूर-दूर स्थलों से जैसे आगरा जिले तथा कोटिया (इलाहाबाद) से भी महाश्म मिले हैं। कुछ कोटिया के महाश्मों की कार्बन तिथि निर्धारित की जा चुकी है। लेकिन इनमें इतना वैविध्य होते हुए भी कुछ ऐसे विशेषक हैं जो इन सब स्थलों को एक महाश्मीय संस्कृति में बांध देते हैं। जैसे एक विशिष्ट प्रकार के काले-लाल भांड, कुछ खास प्रकार के मृद्भांडों के समान आकार तथा बड़ी संख्या में समान लौह उपकरण, इन विभिन्न प्रकार के शवाधानों को एक महाश्मीय संस्कृति के अंतर्गत बांधते हैं। आवासी स्तरों से प्राप्त मृद्भांड प्रकार शवाधानों से भी मिले हैं। लेकिन शवाधानों के मृद्भांड कुछ विशिष्ट प्रकार के भी हैं, शायद उनका अंत्येष्टि संस्कार की दृष्टि से महत्व रहा होगा।

महाश्मों को केवल उनके आंतरिक प्रमाणों को दृष्टि में रखकर ही उनका तिथि निर्धारण करना सम्भव नहीं है। नागराज, आल्चिन तथा बनर्जी ने इनकी तिथि निर्धारण में पहल की है। पहले लिखा जा चुका है कि ब्राह्मल, नागदा और टेकवाडा में उत्तरकालीन ताम्राश्मीय तथा प्रारंभिक लौह-युग के आसार मिलते हैं। हल्लूर, हालिंगली और पैयमपल्ली में नवाश्मीय तथा महाश्मीय संस्कृतियों के काल परस्पर-व्यापी हैं। सौंदरा को नवाश्मीय शवाधान के साथ चमकदार (Burnished) धूसर मृद्भांड, दो चंद्राकार लघु अश्म, एक ताम्र

की चूड़ी और कुछ काले-लाल मृद्‌भांड के ठीकरे मिले। हल्लूर के काल II के विषय में नागराज राव का मत है कि काल I प्रकाल 2 के विशेषक, फलक उद्योग के अलावा, चलते रहे। लौह-युग संस्कृति की विशिष्टता है—विशिष्ट प्रकार के काले-लाल मृद्‌भांड, पूरे काले मृद्‌भांड, सफेद और चित्रित प्रकार के भांड और लौह उपकरण। पैयमपल्ली का विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं है। दक्षिण में नवाश्मीय संस्कृति के अंतिम चरण में बड़ी संख्या में ताम्र उपकरण तथा जोर्वे प्रभाव पाया जाता है। इस प्रकार उत्तरी दक्कन में, टेकवाडा तथा कर्नाटक क्षेत्र (उदाहरणार्थ हल्लूर) में लोहे का उद्‌भव जोर्वे संस्कृति के अंत में या अंत के बाद हुआ।

यहाँ हम यह मान कर चल रहे हैं कि आवास तथा महाश्मों से प्राप्त काले-लाल मृद्‌भांड एक ही संस्कृति से संबंधित हैं। इस प्रकार काले-लाल मृद्‌भांड के चलन के साथ ही महाश्म के चलन का प्रारंभ माना जायगा। गोर्डन के मतानुसार दक्षिण अरब के कुछ व्यापारियों ने भारत के दक्षिण में लगभग 700 से 400 ई० पू० के मध्य लोहे का प्रचलन आरंभ किया। यदि हम यमन के पाये वाली शव पेटिका (Sarcophagi) और चट्टान काटकर बनाये गये शवाधानों की समानता मालाबार के नमूनों से करें तो गोर्डन का तर्क महत्वपूर्ण लगता है। अल्चिन ने पेरुमल के उत्खनन से प्राप्त लंबी खुली टोंटी वाले जग और कटोरे व सपीठ छोटे कटोरों के प्रकारों को स्याल्क B के अनुरूप बताया है। घोड़ों के साज के धातु निर्मित भाग भी स्याल्क B की ओर इंगित करते हैं। स्थल मार्ग से दक्षिण भारत में लौह प्रसारण की अपेक्षा समुद्र द्वारा इस भाग में प्रसारण होना अधिक संभव लगता है। उत्तरी आर्कोट जिले में संगामेडू के उत्खनन से लौह के प्रारंभिक चलन के प्रमाण मिलते हैं। यहाँ पर काले-लाल मृद्‌भांड के 3 मीटर के निक्षेप के पश्चात् रूलेटेड (Rouletted) मृद्‌भांड का आगमन हुआ।

काले-लाल भांड में अल्चिन ने कालानुक्रम का अंतर देखा है। उनके अनुसार लौह-युग का प्रथम चरण पिकलीहाल (स्थल VI, 3 स्तर) और हल्लूर (स्तर 4-7) में है, जो कि ब्रह्मगिरि के पत्थर के फर्श वाले शवाधान-गर्तों के समकक्ष है। इन शवाधानों से काले-लाल तथा जोर्वे प्रकार के मृद्‌भांड के साथ लौह उपकरण भी सबसे पहले यहीं इनके साथ मिले। इनके अतिरिक्त इस चरण की अन्य विशिष्टताएँ हैं—सफेद चित्रित काले-लाल मृद्‌भांड, पत्थर की कुल्हाड़ी तथा फलक जो इस काल में भी चलते रहे, जबकि हल्लूर के इस चरण से ये नहीं मिलते। द्वितीय चरण की विशिष्टताएँ हैं घिस कर चमकाये हुए काले-

लाल, काले और लाल भांड। अल्विन के मतानुसार ब्रह्मगिरि का महाश्मीय काल, पिकलीहाल लौह स्तर, और मास्की II सभी इसी चरण में आते हैं।

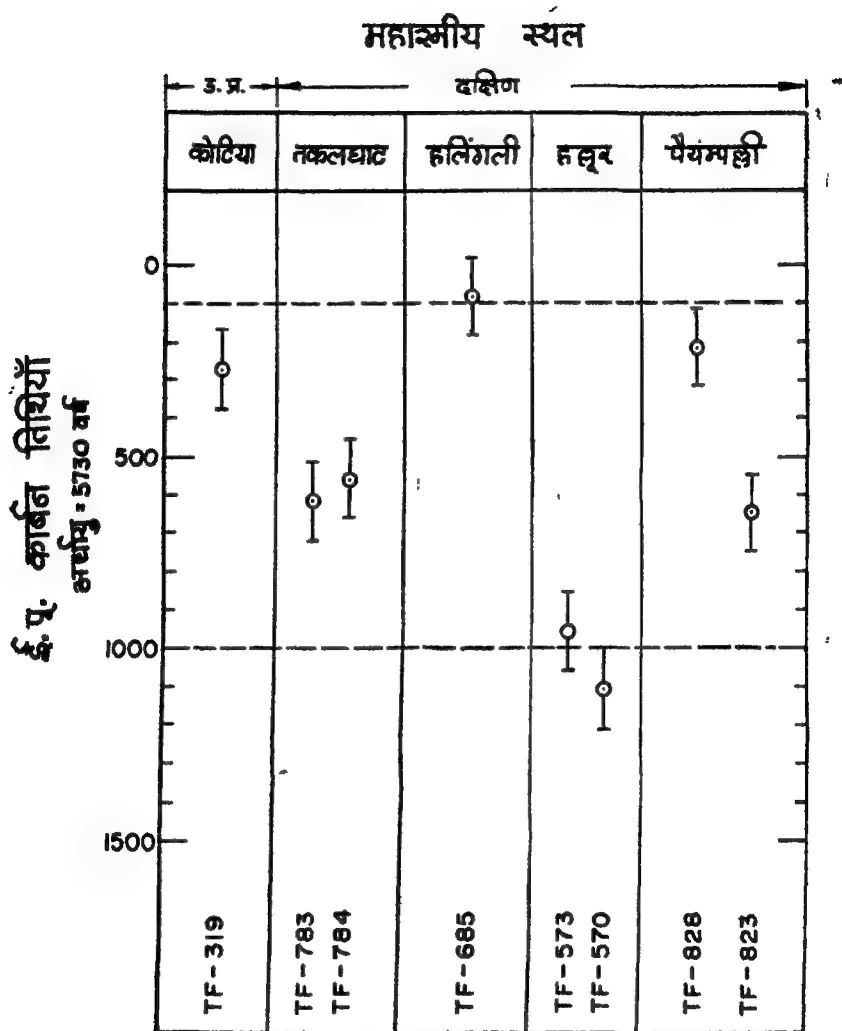
तृतीय चरण की विशिष्टताएँ हैं—गेरुआ लेपी (Russet coated) या आंध्र मृद्भांड और रूलेटेड मृद्भांड। अरीकामेडू में रूलेटेड मृद्भांड एर्रेटाईन (Arretine) मृद्भांडों के नीचे मिले थे। रूलेटेड भांडों की थालियों की एन० बी० पी० भांडों से उल्लेखनीय समानता है। यह कुछ नहीं कहा जा सकता कि पुरातात्विक दृष्टि से इस समानता का क्या महत्व है। दक्षिण के इस लौह-युग के तृतीय चरण को पहली-दूसरी सदी में रखा जा सकता है। इस चरण के अंतर्गत ब्रह्मगिरि के महाश्मीय काल, माल्की काल II और पिकलीहाल लौह-युग के ऊपरी स्तर आते हैं।

IV. विदर्भ की महाश्मीय संस्कृति

देव को पौनार और कौंडियपुर के उत्खनन से लाल रंग से चित्रित काले भांड (मालवा—जोर्वे भांडों के विपरीत) मिले थे। उन्होंने नागपुर क्षेत्र (विदर्भ) में तकलाघाट तथा खापा का भी उत्खनन किया। ये सभी स्थल एक ही संस्कृति के भाग हैं। इन सब स्थलों की समान विशिष्टताएँ हैं। मृद्भांडों की बनावट और प्रकार ताम्र तथा लौह उपकरणों के आकार एक से ही हैं। यहाँ के महाश्मीय शवाधानों के गर्त्तों से मानव अस्थियों के साथ घोड़े की सी हड्डियाँ भी मिलीं हैं। गर्त्त के चारों ओर पत्थर के वृत्त मिले थे। गर्त्त मिट्टी तथा पत्थर से भर गये थे। खापा महाश्मीय व तकलाघाट आवासी स्तर के अवशेषों के बीच पूर्ण समानताएँ हैं। मुख्य असमानता केवल शवाधानों में चित्रित मृद्भांडों की अनुपस्थिति है। देव के अनुसार विदर्भ और ब्रह्मगिरि, मास्की, सानूर और आदिचन्नालूर के महाश्मों के बीच मृत्तिका शिल्प भांड आकार, लोहे के हथियारों तथा मनकों में समानताएँ हैं। यहाँ तक कि दोनों क्षेत्रों के काले-लाल मृद्भांडों पर रेखांकन और निक्षारित तामड़ा पत्थर के मनकों के प्रतिरूपों में बहुत समानता है।

V. महाश्मीय संस्कृति की कार्बन तिथियाँ (आरेख 11, तालिका 6)।

वाराणसी जिले में चंद्रप्रभा घाटी के महाश्मों को, उत्खनक ने ताम्राश्मीय संस्कृति के अंतर्गत रखा है। काकोरिया के ऐसे ही महाश्मीय स्थल से संगोरा वृत्त और सिस्ट मिलें। इन शवाधानों में मानवी हड्डियाँ नहीं मिलीं। बल्कि इनमें बैल की हड्डियाँ और मृद्भांड और एक कक्ष में से सोने की चूड़ी भी मिलीं।



आरेख 11
महाश्मीय स्थलों की कार्बन तिथियाँ

महाश्मीय स्थलों की कार्बन तिथियाँ

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई० पूर्व (अर्धायु 5730 वर्ष)	
कोटिया (उत्तर प्रदेश)	TF—319	270±105
तकलाघाट (विदर्भ, महाराष्ट्र)	TF—783,	615±105
	TF—784,	555±100
हालिंगाली (मैसूर)	TF—685,	80±100
हल्लूर (मैसूर)	TF—573,	955±100
	TF—570,	1105±105
पैयमपल्ली (तामिलनाडु)	TF—828,	210±100
	TF—823,	640±105

तालिका 6—कोटिया, हालिंगाली के महाश्मीय और काले-लाल भांडों के लौहयुग के स्थलों की कार्बन तिथियाँ।

लघुअश्मों की प्राप्ति तथा मध्य भारत की ताम्राश्मीय संस्कृतियों से तथाकथित सादृश्य तथा एन० बी० पी० भांड और लोहे की अनुपस्थिति के कारण इन महाश्मों को ताम्राश्मीय कहा गया है। इनसे प्राप्त कोयले की कार्बन तिथि के अनुसार काकोरिया का महाश्मीय काल केवल 300 वर्ष पुराना है। यह कम

बाद की थी या विशृंखलित हुई, कुछ कहा नहीं जा सकता। उत्खनक के अनुसार इलाहाबाद जिले के काकोरिया और कोटिया महाश्मों के बीच कोई संबंध नहीं है। कोटिया के महाश्म लौह-युग के हैं। इस स्थल के एक महाश्म की तिथि TF—319, 270±105 है। हालिंगली महाश्म की तिथि TF—685, 80±100 ई० पू० है। परंतु उत्खनक के अनुसार शवाधान बाद में विशृंखलित हुए और इसमें बाद में कोयला गिरा होगा। अब तक महाश्मीय संस्कृति की दो ही निश्चित कार्बन तिथियाँ हैं।

लौह-युग की बस्तियों में पैयामपल्ली (तामिलनाड) के नमूने TF-828 और-823 के अनुसार इसकी तिथि लगभग 600-200 ई० पू० है। हल्लूर की नवाश्मीय व महाश्मीय परस्पर व्याप्त स्तरों की तिथियाँ लगभग 1000 ई० पू० (TF-573 और-570) है। यह सबसे पूर्ववर्ती तिथि है। यह उल्लेख करना आवश्यक है कि यदि हल्लूर में नवाश्मीय संस्कृति का अंत अचानक हो गया और लौह काल का उद्भव कुछ अंतराल के बाद हुआ तो ये तिथियाँ नवाश्मीय काल I_2 की भी हो सकती हैं। काल I_2 की तीन तिथियाँ हैं। प्रकाल II की TF-575, 1030±105 और TF-570, 1105±105 तिथियाँ एक मानक विचलन के अंदर एक ही हैं। काल II में प्रस्तर फलक उद्योग का अचानक अंत नवाश्मीय और लौह-स्तरों के बीच अंतर्व्यापन और निरंतरता को संदिग्ध बना देता है। दक्षिण में लौह के उपयोग का तिथि निर्धारण केवल हल्लूर की TF-573 और-570 तिथियों पर निर्भर करता है। अतः कालानुक्रम के पुष्टिकरण के लिए और भी तथ्य और तिथियाँ आवश्यक हैं। यदि दक्षिणी महाश्मीय काल लगभग 1000 ई० पू० या बाद तक चला तो हमें आवासी निक्षेप काफी गहरे मिलने चाहिए। अभी तक के निक्षेप के पतलेपन से इतने लम्बे काल विस्तार पर शंका व्यक्त की जा सकती है। तकलाघाट की दो कार्बन तिथियाँ TF-783, 615±105 और TF-784, 555±100 ई० पू० हैं।

यदि हम हल्लूर, तकलाघाट और कोटिया की सबसे प्रारंभिक तिथियाँ क्रमशः लगभग 1000 ई० पू०, 600 ई० पू० व 300 ई० पू० मानें तो ऐसा लगता है कि महाश्मीय संस्कृति का प्रसार दक्षिण से उत्तर की ओर हुआ।

VI. भारत में लौह-युग

यद्यपि दूसरी सहस्राब्दी ई० पू० के प्रथम भाग से ही टर्की में लौह तकनीक का ज्ञान था लेकिन उसके आस-पास के क्षेत्रों में लगभग 1200 ई० पू० से पहले यह तकनीक ज्ञात न थी। आमतौर से यह माना जाता है कि आको-

फ्राईजियनों की हिट्टाइटों पर विजय के बाद लौह तकनीकों पर हिट्टाईट का एकाधिकार खत्म हो गया। परंतु प्रजेवर्सकी का मत है कि लौह तकनीक का विकास कई पश्चिमी देशों के लंबे समय तक सतत संयुक्त प्रयत्नों के बाद हुआ। भारत की पश्चिमी सीमा पर, स्यालक नेकरोपोलिस B में सर्वप्रथम लौह का प्रादुर्भाव हुआ। इस काल में लोहे की अपेक्षा ताम्र मुख्य धातु था। स्यालक B काल से प्रचुरमात्रा में लोहे के बर्तन, तलवारें, कटारें, बाणाग्र, घोड़े का साज आदि मिले। ग्रिशमान ने स्यालक नेकरोपोलिस B की तिथि लगभग 900 ई० पू० बतायी है। अफ़गानिस्तान के स्थलों की लोहे के उद्भव की तिथियाँ व अन्य सामग्री अधिक उपलब्ध नहीं है। लेकिन मुंडीगक काल IV से लोहे के बाणाग्र कटोरे और घोड़े के साज मिले। इन उपकरणों की तुलना स्यालक B से की जा सकती है।

स्वात घाटी व बाजौर के अनेकों कब्रों का उत्खनन किया जा चुका है। (उनकी कार्बन तिथियों का विवेचन पहले ही किया जा चुका है) लगभग 1000 ई० पू० लोहा इस क्षेत्र में प्रगट होने लगा था। पिराक (बलूचिस्तान) में कार्बन तिथियों (तालिका-7) द्वारा लौह काल का प्रारंभ लगभग 800 ई० पू० निश्चित होता है तथा स्यालक B से समानता के आधार पर मुगल घुंडई और जीवन्री संगोरों का काल लगभग 900-800 ई० पू०। जागियन संगोरा शवाधानों की कोई भी कार्बन तिथियाँ नहीं हैं।

राजस्थान की लौह-कालीन चि० धू० मृद्भांड संस्कृति की कार्बन तिथि लगभग 800 ई० पू० है (आरेख 12, तालिका 4)। दोआब के पूर्वी स्थलों सोनपुर, चिरान्द (बिहार) और महिषदल (पश्चिमी बंगाल) की कार्बन तिथियों के अनुसार लोहे का प्रारंभ लगभग 700 ई० पू० (आरेख 12) हुआ। दक्षिण में हाल्लूर की तिथि लगभग 1000 ई० पू० है (तालिका 8)।

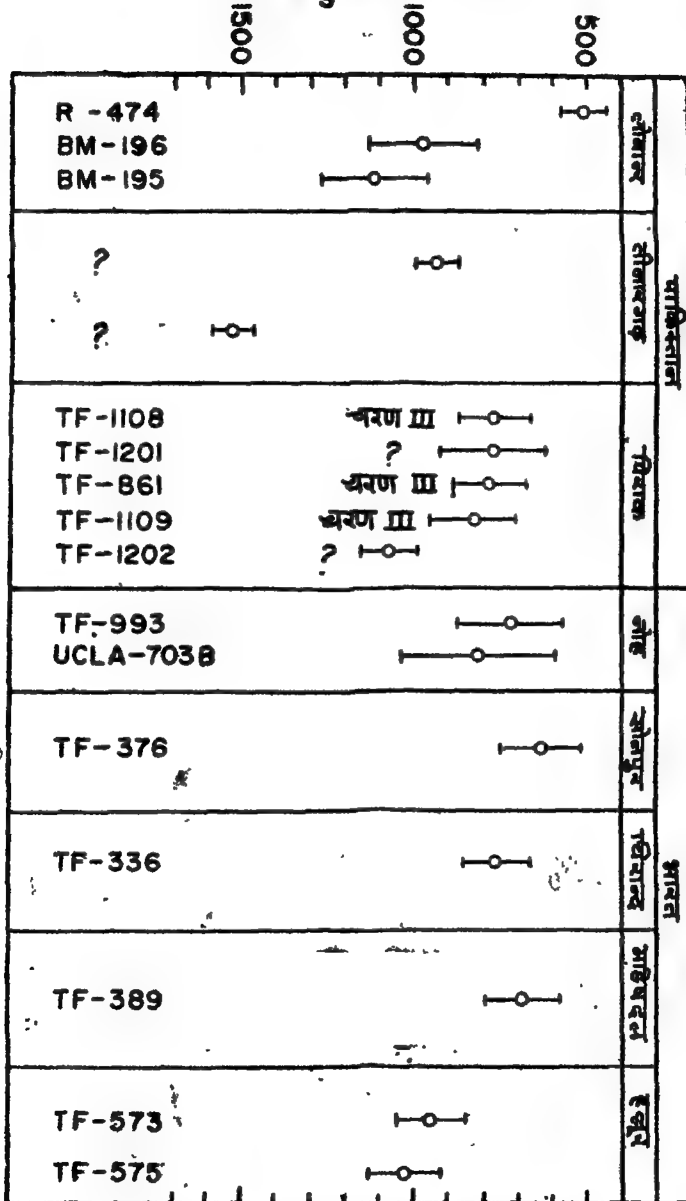
उपर्युक्त कुछ कार्बन तिथियों का विश्लेषण करने पर लगता है कि उत्तर में लौह तकनोक का प्रसार ईरान से स्थल मार्ग से लगभग सौ-दो सौ साल में हुआ होगा। स्टाकुल के मतानुसार गालीगाई V की अनेकों सांस्कृतिक विशिष्टताओं की समानता डेन्यूब घाटी की संस्कृतियों से है। स्वात घाटी के काल V में लोहे के साथ धूसर मृद्भांड का चलन व इसी प्रकार भारत के चि०धू० भांड के साथ लोहे का मिलना महत्वपूर्ण समझा जा सकता है। यदि हम लौह तकनीक के प्रसारण को स्वात घाटी से होते हुए मानें तो राजस्थान में लौह की तिथि लगभग 800 ई० पू० संगतपूर्ण बैठती है। सम्भवतः लौह तकनीक का बिहार में प्रसार, प्रारंभ में कुछ साहसी आदि जातियों द्वारा हुआ हो, जो लौह अयस्कों

प्रारंभिक लौह काल के स्थलों की कार्बन तिथियाँ

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई० पूर्व (अर्धायु 5730 वर्ष)	संस्कृति व काल
लोएबाम्र I स्वात	BM-195, 1120±154	ग़ाली ग़ाई II
"	BM-196, 985±154	"
"	R-474, 510±72	"
तीमारगढ़ (बाजौर)	? 1530±62	"
"	? 940±62*	"
नोह (राजस्थान)	UCLA-703B 822±225	चि० धू० भाण्ड
	TF-993, 725±150	"
सोनपुर (बिहार)	TF-376, 635±110	काले-लाल भाण्ड
चिरान्द (बिहार)	TF-336, 765±100	"
महिषदल (पश्चिमी बंगाल)	TF-389, 690±105	"
हल्लूर (मैसूर)	TF-573, 955±100	नवाश्मीय-महाश्मीय संक्रान्ति काल
	TF-570, 1105±105	"
पिराक बलूचिस्तान	TF-1108, 775±105	लौह युग
	TF-1201, 775±155	"
	TF-861, 785± 05	"
	TF-1109, 830±125	अज्ञात
	TF-1202, 1075±80	"

तालिका 7—प्रारंभिक लौह युग के स्थलों की तुलनात्मक कार्बन तिथियाँ

*दानी ने इसकी तुलनात्मक ग़ालीग़ाई काल VI से की.



आरेख 12—आदि लौहकाल की कार्बन तिथियाँ

नवाश्मीय स्थलों की कार्बन तिथियाँ

स्थल	कार्बन तिथियाँ ई० पूर्व (अर्धायु 5730 वर्ष)	स्थल	कार्बन तिथियाँ ई० पूर्व (अर्धायु 5730 वर्ष)
गाल गाई (पाकिस्तान)	R-377a, 1608±50 R-379a, 2355±70 R-379, 2422±55 R-380, 2376±140	उत्नूर (आंध्र प्रदेश)	TF-168, 2040±115 TF-167, 2050±115 BM-54, 2295±155
किलीगुल मोहम्मद (पाकिस्तान)	UW-61, 3470±83 P-524, 3690±85 L-180a, 3510±515	तरदल (मैसूर)	TF-683, 1770±120 TF-684, 1935±100
बुर्जाहोम (कश्मीर)	TF-15, 1535±110 TF-129, 1825±100 TF-13, 1850±125 TF-14, 2025±350 TF-127, 2100±115 TF-123, 2225±115 TF-128, 2375±120	टेक्कलाकोटा (मैसूर)	TF-239, 1540±105 TF-262, 1610±140 TF-237, 1615±105 TF-266, 1780±105
कोडेकल (आंध्र प्रदेश)	TF-748, 2460±105	संगनकल्लू (मैसूर)	TF-359, 1550±105 TF-355, 1585±105 TF-354, 1590±110
पालावोय (आंध्र प्रदेश)	TF-700, 1540±100 TF-701, 1965±105		
हल्लूर (मैसूर)	TF-573, 955±100* } TF-570, 1105±105 } TF-575, 1030±105 TF-586, 1195±100 TF-576, 1425±110 TF-580, 1710±105	चिरान्द (बिहार)	TF-1035, 1270±105 TF-1127, 1375±100 TF-1125, 1515±155 TF-1033, 1540±110 TF-1034, 1570±115 TF-1030, 1580±100 TF-1031, 1675±140 TF-1032, 1755±155
पैयमपल्ली (तामिलनाडु)	TF-833, 1360±210 TF-349, 1485±100 TF-827, 1725±110	बारूदीह (बिहार)	TF-1099, 750±110 TF-1100, 1055±210 TF-1101, 595±90 TF-1102, 660±90
टी० नर्सीपुर (मैसूर)	TF-413, 1495±110 TF-412, 1805±110		

तालिका 8—पश्चिमी पाकिस्तान, कश्मीर, दक्षिणी भारत और बिहार की नवाश्मीय संस्कृतियों की कार्बन तिथियाँ।

* नवाश्मीय और महाश्मीय परस्पर व्यापी हैं।

की खोज में निकले थे। इस संदर्भ में कौशांबी का कथन महत्वपूर्ण है कि आर्यों की मुख्य बस्तियों का पूर्ववर्ती प्रसार हिमालय के गिरिपादों के साथ दक्षिणी नैपाल में तद्पश्चात (बिहार में) चंपारन जिले से दक्षिण की ओर गंगा की घाटी तक हुआ। जंगल जलाकर साफ़ किये गये। परंतु यह मैदानी प्रसार गंडक नदी के पश्चिम तक ही हो पाया, जैसा कि शतपथ ब्राह्मण के साक्ष्य से भी ज्ञात होता है। इसकी तिथि 700 ई०पू० होनी चाहिए। लेकिन चम्पारन से दक्षिण की ओर मुड़ने का अर्थ अयस्कों की खोज के लिए था। इस प्रकार यदि हम बिहार में लोहे के प्रयोग की 700 ई० पू० तिथि निर्धारित करें तो इसके सांस्कृतिक महत्व का आभास होता है।

यदि दक्षिण में लौह-युग के प्रारंभ की तिथि (लगभग 1000 ई० पू०) की पुष्टि अन्य कार्बन तिथियों से हो जाती है तो यही समझा जा सकता है कि यहाँ इसका प्रसार समुद्री मार्ग से ही हुआ होगा। स्यालक B की पेरुमूल पहाड़ियों के अवशेषों से समानता तथा महाश्मों का यमन से सादृश्य भी समुद्री व्यापार द्वारा ही इन समान सांस्कृतिक विशिष्टताओं के प्रसार को दर्शाता है।

दक्षिण में महाश्मीय संस्कृति प्रबल थी। परंतु विभिन्न प्रकार के महाश्म हिमाचय प्रदेश, अल्मोड़ा, आगरा, इलाहाबाद व वाराणसी के जिलों से तथा आसाम से भी मिले है। कोटिया (उत्तर प्रदेश), खापा (विदर्भ) और प्रायद्वीप के अन्य गर्त वृत्तों (Pit circles) के मृद्भांडों और लौह उपकरणों के बीच समानताएं है। हल्लूर की तिथि लगभग 1000 ई० पू०, ताकलाघाट की लगभग 600 ई० पू० और कोटिया की लगभग 300 ई० पू० है। अतः काल-स्थान दोनों दृष्टियों से दक्षिण से उत्तर में महाश्म प्रसारण की संभावनाएँ तर्क संगत लगती है। भौगोलिक दृष्टि से भी खापा के महाश्म कर्नाटक और उत्तर प्रदेश के मध्य पड़ते हैं।

प्राप्त सीमित तथ्यों से उक्त परिकल्पनाओं द्वारा भारत में लौह प्रसार और महाश्मीय संचरण को समझा जा सकता है। परंतु पूर्ण और अधिक प्रामाणिक व्याख्या के लिए अधिक उत्खनन और नये व पुराने सर्वेक्षणों तथा उत्खननों की रिपोर्टों का शीघ्र प्रकाशन नितांत आवश्यक है।

अध्याय 5 : संदर्भिका

इस अध्याय विषयक मुख्य ग्रन्थ :

D. P. Agrawal and Sheela Kusumgar. : Prehistoric Chronology and Radiocarbon Dating In India, 1973 (Delhi).

B. & F. R. Allchin : Birth of Indian Civilisation, 1968, (Harmondsworth).

N. R. Banerjee : The Iron Age in India, 1965 (Delhi).

D. D. Kosambi : The Culture and Civilisation of Ancient India in Historical Outline, 1965 (London).

K. S. Ramachandran : Biblograph of Indian Megaliths, 1971 (Madras).

G. R. Sharma : Excavation at Kausambi, 1960 (Allahabad).

K. K. Sinha : Excavation at Sravasti : 1959, 1967 (Varanasi).

Vibha Tripathi : Unpublished Thesis (Banaras Hindu University).

इस अध्याय विषयक मुख्य लेख :

G. Stacul : East and West, Vol. XVI, p. 37-39, and p. 261-274, 1966.

काटेलाई कब्रों और गालीगाई उत्खनन पर :

G. Stacul : East and West, Vol. XVII, p. 185, 219, 1967.

G. Stacul : East and West, Vol. XIX, No. 1-2, p. 43-91, 1969.

कलाम कब्रों पर :

G. Stacul : East and West, Vol. 20, Nos. 1-2, p. 87-102, 1970.

तीमारगढ़ और थीर कब्रों पर :

A. H. Dani : Ancient Pakistan, Vol. III, 1967.

A. H. Dani : Asian Perspectives, Vol. VIII, 1, 1966.

R. L. Raikes : East and West, Vol. 14, p. 1, 1963.

उत्तरी भारत, हस्तिनापुर आदि पर	:
B. B. Lal	: Ancient India, Nos. 10 & 11, 1954-55.
विविध स्थलों के उत्खनन पर	:
	Indian Archaeology—A review Nos. 1954-1973.
चित्रित धूसर मृद्भांड पर	:
D. P. Agrawal	: Proc. Aligarh Seminar, 1968 (in press).
K. N. Dikshit	: In Radiocarbon and Indian Archaeology, (Eds) D. P. Agrawal and A. Ghosh, 1973 (Bombay).
Vibha Tripathi	: —do—

अध्याय 6

प्राचीन विश्व व भारत में धातु कर्म

I—ताम्र-उत्पादन का प्रारंभ*

सर्वप्रथम मानव ने प्राकृत ताम्र का उपयोग किया होगा जो कि व्यापक रूप से उपलब्ध था। इसे ठोक कर इच्छानुसार आकार देना आसान रहा होगा। लेकिन अधिक हथौड़ियाने से ताम्र भंगुर होकर, चटक कर टूट जाता है। पुनः उपयोग के लिए इसे तपा कर लाल करना पड़ता है। किस प्रकार इस तापानुशीतन (annealing) प्रक्रिया की शुरुआत हुई होगी, इसका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। टौमसन का अनुमान है कि टूटे हुए ताम्र के टुकड़े को क्रोधावेश में आग में फेंक देना स्वाभाविक है और तत्पश्चात उसे निकालने का प्रयत्न भी स्वाभाविक है। इस प्रकार तपित ताम्र तापानुशीतन द्वारा फिर उपयोग योग्य हो गया होगा।

किसी पुरातात्त्विक निक्षेप से प्राप्त थोड़े से धातु के आधार पर उस काल को ताम्र या कांस्य युग के अंतर्गत नहीं रखा जा सकता। ताम्र या कांस्य युग के अंतर्गत आने वाली संस्कृतियों में धातु तकनीकों का ज्ञान केवल ताम्र के उपयोग की अपेक्षा अधिक अनिवार्य है। विविध धातु तकनीकों का विकास एक कालानुक्रमिक विकास की प्रक्रिया है।

जबसे अयस्क से ताम्र निकाला जाने लगा, तभी से धातु कर्म प्रारंभ हुआ होगा। प्रश्न है कि सर्वप्रथम इस प्रक्रिया का प्रारंभ कहाँ हुआ? एचिसन के अनुसार आक्साइड अयस्क से गलन की सर्वप्रथम खोज निम्न प्रकार के संयोग से हुई होगी। मृद्भांड अलंकृत करने के लिए मैलेकाइट प्रयुक्त होता था। दो मंजिले मृद्भांड भट्टे में 1083° सेंटीग्रेट से अधिक तापमान आसानी से पहुँच

---

*इस अध्याय में वर्णित प्रमाणों के तकनीकी विस्तृत विवरण के लिए अग्रवाल की The Copper Bronze Age in India देखें।

सकता था। यदि भूल से किसी ने इस भट्टी में मेलेकाइट डाल दिया होगा, तो वह ताम्र में परिवर्तित हो गया होगा। कौगलन ने इस अनुमान को प्रयोग द्वारा सिद्ध किया है परंतु कोघेल के मतानुसार इसकी खोज 'कैंपफायरों' में हुई होगी। लेकिन 'कैंपफायरों' में ताम्र के प्रगलांक (1083°c) तक ताप का पहुँचना असंभव है।

प्राचीन संसार में धातु-विज्ञान के जन्म-स्थान की खोज के लिए हमें अनातोलिया से आर्मेनिया के पहाड़ों के पूर्व में अफगानिस्तान तक के क्षेत्र का अवलोकन करना होगा। ये क्षेत्र प्राकृत ताम्र व इसके अयस्कों से परिपूर्ण हैं। एचिसन के मतानुसार एल्बुर्ज पर्वत और कैस्पियन सागर के मध्य का क्षेत्र ताम्र शोधन की शुरुआत के लिए अधिक संभावित क्षेत्र है। इस खोज की तिथि उसने लगभग 4300 ई० पूर्व निर्धारित की है। इस क्षेत्र में जंगली पिस्ता व अन्य वृक्ष (Haloxylon amodendron आदि) उगते थे, जो कि धातु कर्म के ईंधन के लिए बहुत उपयोगी थे, हाल में पराग अध्ययन से भी सिद्ध हुआ है कि जगरोस पर्वतों के पार्श्व में 10,000 से 5000 ई० पूर्व जंगली पिस्ते के जंगल थे।

कुछ विद्वान् विश्वास करते हैं कि लगभग 4000 ई० पूर्व में केवल उत्तर-पूर्वी ईरान में ही ताम्र धातु-विज्ञान का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव हुआ। हैंगडे इस विश्वास को प्रमाणित तथ्य मानते प्रतीत होते हैं। हाल ही में माशिज घाटी (किरमान पर्वतमाला) के ताल-ए-इब्लिस स्थल से लगभग 4000 ई० पूर्व के अयस्क प्रगलनार्थ प्रयुक्त होने वाली मूषाएँ (Crucibles) मिली हैं। अतः इस स्थल को सर्वप्रथम ताम्र प्रगलन केन्द्रों में से एक कहा जा सकता है। मिस्र में धातु-कर्म का इतिहास बहुत अच्छी तरह ज्ञात है। लगभग 5000 ई० पूर्व तासियन काल में धातु का वर्णन नहीं मिलता। बादरियन लोग (जो संभवतः एशिया से आये थे) प्राकृत ताम्र के पिन, सुइयां, मछली के कांटे आदि प्रयोग करते थे। अमरासियन लोग (लगभग 4000 से 3700 ई० पूर्व) ताम्र के ही बने मत्स्य भालों (Karpoons) चिमटी और छेनी जैसे प्राकृत उपकरणों का काफी मात्रा में प्रयोग करते थे। गर्जियन काल में (लगभग 3000 ई० पूर्व) मिस्र का मेसोपोटामिया, फिलिस्तीन व क्रीट से संपर्क था। मात्रा की दृष्टि से गर्जियन काल में ताम्र की अधिक प्रचुरता थी। इस काल ताम्र में प्रगलित कर बसूले, कंगन, छल्ले और छेनी बनाये जाते थे। इसी काल में चित्रित मृद्भांड भी प्रचलित हुए। पूर्व राजवंश (Pre-Dynasty) के उत्तर काल में (लगभग 3200 ई० पूर्व) अधिक उपयोगी उपकरण जैसे कटोरे, चपटी कुल्हाड़ियां,

नुकीले भालाग्र, बसूले, चाकू और मत्स्य भाले प्रचलित हुए। मेसोपोटामिया में सबसे पहले प्रचलित ताम्र *अल्-उबैद काल* (*लगभग* 4000 ई० पूर्व) से मिला है। उरुक काल में ताम्र काफी प्रचलित हो *गया था* और अधिक कठिन उपकरण जैसे हत्थे के लिए छेद वाली कुल्हाड़ियाँ सफलतापूर्वक बनायी जाने लगीं। यह उल्लेखनीय बात है कि उस काल में धातु कर्म के साथ-साथ हड़प्पा की ही भांति, नागरीकरण का भी प्रादुर्भाव हुआ। कुछ काल बाद खफाजे में, ताम्र-पात्र समाधि में रखे जाने लगे। 'उर के चाल्डीज' की राजकीय समाधि से प्रचुर मात्रा में उत्कृष्ट ताम्र भंडार उपलब्ध हुआ है। हड़प्पा की अपेक्षा, सुमेरिया में उर के प्रारंभिक राजवंश (Early Dynasty) काल से ही धातु कर्म की कहीं अधिक विकसित तकनीकों के प्रमाण मिलते हैं। मेसापोटामिया का धातु कर्म मिस्र की अपेक्षा पूर्ववर्ती है, पर ईरान की अपेक्षा थोड़ा बाद का है। ईरान में सूसा से (लगभग 4000 ई० पूर्व) मैलाकाईट से बने ताम्र के उपकरण जैसे छेनी, सुइयां, दर्पण प्राप्त हुए हैं। यहां पर इस काल में खुले सांचे प्रयुक्त होते थे।

II—ताम्र धातु कर्म का प्रसार

धातु युगों के संबंध में फोर्ब्स ने उनकी तकनीक के महत्व पर ही बार-बार बल दिया है। ताम्र की सुघट्यता (Plasticity) और आघातशीलता की सहज प्रारंभिक खोज अनेक स्थलों पर स्वतंत्र रूप से संभव थी। लेकिन अयस्क प्रगलन, धातु की गढ़ाई और ढलाई आदि अधिक जटिल धातु शिल्पों का प्रसारण, संभवतः केवल एक या कुछ एक केन्द्रों से ही हुआ होगा। ऐसी जटिल खोज बहुत से स्थानों में स्वतंत्र रूप से संभव नहीं हो सकती।

ताम्र शिल्प की अपेक्षा ताम्र का प्रचार व प्रसार, व्यापारियों द्वारा दूरस्थ प्रदेशों में पहले हुआ होगा। स्वाभाविक था कि शिल्पियों की अपेक्षा व्यापारी और पैकार विभिन्न क्षेत्रों में पहले पहुँचते।

नीचे हम ईरानी केन्द्रों से पश्चिम में और पूर्व में भारतवर्ष की ओर धातु-कर्म प्रसारण का वर्णन करेंगे।

ताम्र शिल्प का प्रसार] ईरान से मेसोपोटामिया तथा अनातोलिया तक फैला था। मेसोपोटामिया में इसके विकास का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। ट्राय से धातु कर्म के उदाहरण स्तरीकृत रूप में मिले हैं। ट्राय की ऊपरी सतह से (लगभग 4000-2800 ई० पूर्व) ताम्र की सुइयां व चाकू मिले, तो द्वितीय काल (लगभग 2800-2300 ई० पूर्व) से कांस्य (8-11% टीन)

तथा अन्य धातु उपकरण उपलब्ध हुए। वे धातु उपकरणों के गढ़ने में कुशल होते हुए भी स्वयं ताम्र प्रगलन नहीं करते थे। पूरी तीसरी सहस्राब्दी भर अनातोलिया मेसोपोटामिया की ताम्र शिल्पविधियों व प्रवीणता का संग्रह-केन्द्र बना रहा।

3000 ई० पूर्व से कांस्य धातु कर्म की तीव्रगति से विकास होने के फलस्वरूप अयस्क भण्डारों की खोजों को बल मिला। ट्राय तथा निकटवर्ती केन्द्रों ने डेन्यूब तटीय लोगों को धातुकर्म में अधिक प्रभावित किया। 2200 ई० पूर्व तक ट्राय के व्यापारी वियना तथा बोहेमिया तक पहुँचने लगे। यह तकनीक योरोप में डेन्यूब के मुहाने पर स्थित हाल्सपौंट से प्रसारित हुई। ट्रांसकाकेसिया से हंगरी के मैदानों में धातु कर्म का प्रसार और भी पहले शुरू हो गया था। पश्चिम में धातु कर्म ज्ञान स्पेन तथा पुर्तगाल तक फैला। 2500 ई० पूर्व तक आईबेरियन प्रायद्वीप में पूर्णतः ताम्र आधारित संस्कृति स्थापित हो चुकी थी। लगभग 2200 ई० पूर्व तक मध्य योरोप में ताम्र की वस्तुओं का क्रय-विक्रय होने लगा था। लगभग 2200 से 2000 ई० पूर्व ट्रांसिल्वानिया और स्लोवाकिया की कोर्पेथियन पहाड़ियों, पूर्वी आल्प्स, बाल्कन और बोहेमिया और सैक्सोनी की पहाड़ियों में ताम्र प्रगलन के केन्द्र व्यापक रूप से स्थापित होने लगे थे। इस प्रकार मध्य योरोप के विशाल क्षेत्र में ताम्रयुगीन संस्कृति प्रसारित हो गयी। इंगलैंड में लगभग 1900 ई० पूर्व के बाद ही ताम्र का प्रसार हुआ। संभवतः आइबेरिया के ताम्रकर्मियों द्वारा ही ब्रिटेन में धातुकर्म का प्रादुर्भाव हुआ। टाइलकोट का कथन है कि दो सहस्र ई० पूर्व के लगभग आईबेरिया परंपरा के धातु कर्मियों का एक समूह आयरलैंड में आकर बस गया। इन्हीं के साथ दक्षिणी और पूर्वी इंगलैंड के 'बीकर' आक्रामक संपर्क में आये। हाल में रेंफ्रू ने योरोप में धातु कर्म की उत्पत्ति एशिया से भी प्राचीन प्रतिपादित की है। उनका मुख्य आधार कार्बन तिथियों का शोधन है जो कि अभी तक एक विवादास्पद विषय बना है।

अब हम पूर्व की ओर धातु कर्म के प्रसार पर दृष्टिपात करेंगे। सिंधु और बलूचिस्तान की प्राग्हड़प्पा संस्कृतियों की अपेक्षा ईरान में धातु कर्म के क्रमिक विकास का अध्ययन विस्तारपूर्वक किया गया है। स्याल्क में कोगलन ने धातुकर्मीय विकास का पूर्ण अनुक्रम खोज निकाला है। स्याल्क काल I व II के प्रारंभ में ठंडे धातु को ही हथौड़िया कर हथियार बनाये जाते थे। प्रकाल III_4 में खुले सांचों में ताम्र ढाला जाने लगा था। बंद मुंह के दोहरे सांचों का चलन काल III_5 से हुआ। काल IV में लुप्त मोम (Lost wax) पद्धति द्वारा भी

ढलाई की जाने लगी। स्याल्क के काल I की तिथि लगभग 5000 ई० पूर्व व काल IV की लगभग 3000 ई० पूर्व है। स्पष्टतः धातु कर्म भारतवर्ष की अपेक्षा ईरान में अधिक प्राचीन है।

पूर्व व पश्चिम दोनों दिशाओं में ताम्र कर्मीय तकनीकों के प्रसार में ताल-ए-इब्लिस की सबसे प्राचीन केन्द्र के रूप में निर्णायक भूमिका रही है। किरमान की पहाड़ियाँ ताम्र अयस्क से भरपूर हैं। ताल-ए-इब्लिस से प्राप्त मेसोपोटामिया के जैसे (लगभग 2800 ई० पूर्व) प्रवणित किनारे वाले (bevelled rim) कटोरों से ज्ञात होता है कि अयस्क और धातुओं का व्यापार दूरस्थ प्रदेशों में परस्पर होने लगा था।

. ताल-ए-इब्लिस के पूर्व में, बालुक घाटी में स्थित दारुई और तप्पा-ए-नूराबाद से स्टाइन को कुछ मृद्भांड मिले थे, लांबर्ग-कार्लोवस्की के मतानुसार इनकी समानता शाह हुस्सैनी (बामपुर) और राना घुंडई काल I और II के मृद्भांडों से की जा सकती है। इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि इन केन्द्रों का संपर्क भारत-पाक उपमहाद्वीप से था तथा इन्हीं केन्द्रों से होते हुए ताम्र कर्मीय तकनीकों का प्रसार भारतवर्ष में हुआ।

यह ज्ञात नहीं है कि बलूचिस्तान में इन तकनीकों का आगमन मकरान से हुआ या अफगानिस्तान से। डेल्स के चरण C के अंतर्गत (हमारे मतानुसार लगभग 3300-3000 ई० पूर्व) इस क्षेत्र में धातु की खोज हो चुकी थी। ड्यूपरी को देह मोरासी प्रकाल IIIz से खोखली ताम्र की नलिएँ मिली हैं जो हिस्सार काल II के समतुल्य हैं।

पहले ही उल्लेख किया गया है कि अफगानिस्तान में मुंडीगाक से धातुकर्म का विकास एक पूर्ण अनुक्रम में मिला है। काल I के स्तर से ताम्र के मोड़दार फलक व प्रकाल I_5 से एक सूआ उपलब्ध हुआ है। प्रकाल II_3 से भालाग्र, भरगोल सिरे वाले सूए (internally voluted spiral-headed pin) व छेदवाली सूइयां मिली हैं। इस प्रकार के भाले की नोकें काल IV तक प्रचलित रहीं। लांबर्ग कार्लोवस्की ऐसे हथियारों को रीढ़दार डांसवाली कटार (tanged dagger with mid-rib) के नाम से संबोधित करते हैं; जब कि उसमें रीढ़ है ही नहीं। काल III_6 काल में टीन-मिश्रण के प्रमाण मिले हैं, लेकिन विश्लेषण से ज्ञात होता है कि प्रकाल I_5 में, प्रकाल III_6 की अपेक्षा अधिक टीन की मात्रा थी। काल III से अधिक ताम्र उपकरण मिले हैं जैसे हत्थे के लिए छेद वाले कुल्हाड़े, बसूले (III_6), बिना रीढ़वाली भाले की नोकें, एक हंसिया फलक आदि, काल IV_3 से द्विमरगोल सिरे वाले सूए, नतोदर चक्रिका,

IV I मत्स्य कांटे और भाले के मोड़दार फलक के साथ (IV_2) अन्य उपकरण मिले हैं। काल V के स्तर से अधिक धातु उपकरण उपलब्ध नहीं हुए। प्राप्त उपकरणों में अधिक बाणाग्र हैं। बलूचिस्तान से बहुत थोड़ी संख्या में त्वरित धातु-उपकरण मिले हैं। इस्पेलेन्जी टीला I और क्वेटा से क्वेटा-मृद्भांडों के साथ ताम्र शिल्प उपकरण भी उपलब्ध हुए हैं। कुछ ताम्र के टुकड़े दंब सदात काल II और काल III के स्तर से प्राप्त हुए।

डेल्स ने अपने चरण D के अंतर्गत मुख्यतः सिंधु की प्राग्हड़प्पा संस्कृतियों के स्थलों जैसे कोटदीजी, कालीबंगन तथा बलूचिस्तान को रखा है। कोटदीजी के प्राग्हड़प्पा स्तर से ताम्र की केवल एक वस्तु मिली है। आम्री से हस्तनिर्मित मृद्भांडों और टोगाउ C ठीकरों के साथ केवल एक धातु का टुकड़ा, कालीबंगन काल I से दो-तीन टुकड़े, कुल्ली से एक दर्पण, पिन और चपटी कुल्हाड़ी, और निंदोवारी से केवल एक चूड़ी मिली है। अन्य स्थलों से धातु के उपयोग मात्र का आभास होता है। नाल की कब्रों और D और F क्षेत्रों से पर्याप्त मात्रा में धातु के चाकू, फलक, चूड़ियाँ, कुल्हाड़ियाँ आदि मिले हैं।

उपर्युक्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सिंध में ताम्र-कर्मी तकनीकों का प्रसार, ईरान से अफगानिस्तान होते हुए बलूचिस्तान के माध्यम से हुआ होगा। ताम्र धातु कर्म का ज्ञान सिंध में ईरान से 1500 साल बाद लगभग 2400 ई० पूर्व हुआ। प्राग्हड़प्पा संस्कृतियों की अपेक्षा हड़प्पा काल में एकाएक प्रचुर संख्या में विविध प्रकार के हथियारों का प्रादुर्भाव हुआ। धातु कर्म प्रसार के उपर्युक्त स्पष्ट मार्ग एवं हड़प्पा संस्कृति की अपेक्षाकृत परवर्ती तिथि से सिद्ध होता है कि हड़प्पा में धातु कर्म की स्वतंत्र उत्पत्ति नहीं हुई। इसकी पुष्टि इस बात से होती है कि हड़प्पा संस्कृति में प्रारंभ से ही धातुकर्म तकनीकें पूर्ण रूप से विकसित अवस्था में पायी गयी हैं। इसलिए स्वतंत्र विकास का प्रश्न ही नहीं उठता।

III—प्राचीन भारत में अयस्क और खनन

क—ताम्र अयस्क

ताम्र, जल, मिट्टी व अयस्कों में मिलता है। प्राकृत ताम्र, ताम्र और लौह अयस्कों की ऊपरी सतहों से उपलब्ध होता है। भारतवर्ष में मुख्यतः निम्नलिखित ताम्र खनिज मिलते हैं।

1—कैलकोपईरीट ($Cu2SFe_2S_3$)	34·6%	ताम्र
2—कैलकोसाईट (Cu_2S)	79·8%	ताम्र

3—बोरनाईट (Cu $FeSO_4$)	55.5%	ताम्र
4—टेटराहैड्राइट ($4Cu_2$ S Sb_2S_3)	52·1%	ताम्र
5—कोवेल्लाइट (CuS)	66·5%	ताम्र
6—मैलाकाइट ($CuCo_3Cu(OH)_2$	57·3%	ताम्र
7—एज्युराइट ($2CuCo_3$ Cu $(OH)_2$)	55·1%	ताम्र

सिंगभूम की ताम्र पट्टी 130 किलोमीटर लंबे और 8 कि०मी० चौड़े क्षेत्र में फैली है। 1959 में किये गये अनुमान के अनुसार इसके 38 लाख टन ताम्र अयस्क में औसतन 2·47% ताम्र है। नवीन खोजों के अनुसार पत्थरघोरा, सूर्धा, केंडडीह, रोअम-सिद्धेश्वर के ताम्र खानों का पता चला है। आंध्र में श्री गुंटूर के दक्षिण आरकोड़ और हुसन बिले में ताम्र अयस्क मिला है। गुंटूर की ताम्र भंडार पट्टी 4·8 किलोमीटर लंबी है। जबलपुर के क्षेत्र में डोलोमाइट में पतली कैलकोपाईराईट और टेटराहैड्राइट खनिजों की नसें हैं। राजस्थान से लगभग सभी क्षेत्रों में ताम्र अयस्क मिलते हैं। इस प्रदेश की झुनझुना जिले की खेत्री सिंघाना खान जो कि लगभग 80 किलोमीटर लंबी है, सबसे महत्वपूर्ण है। इस पट्टी के मर्दान कुरान क्षेत्र में, 2 करोड़ 80 लाख टन के अयस्क भंडार में 0·8% ताम्र है, और दरीवो क्षेत्र के 5 लाख टन अयस्क भंडार में 2·5% ताम्र है। इस क्षेत्र में चालकोपाईराईट खनिज पाया जाता है। मजूमदार और राजगुरु और श्री निवास आदि के विवरणों के आधार पर महत्वपूर्ण राजस्थानी ताम्र अयस्क भंडारों का नीचे थोड़ा विस्तार से वर्णन करेंगे।

ख—मुख्य ताम्र अयस्क भंडार

(i) खेत्री सिंधान (जिला जयपुर) के बाहर लाखों टन धातु मल के ढेर लगे हैं। यहाँ पर कैलकोपाईराइट अयस्क का प्रयोग किया जाता रहा। जिसमें ताम्र 0·75 से 4% तक मिलता है।

(ii) खोदरीवर (जिला अलवर) में अयस्क फाईलाइट चट्टानों में नसों के रूप में मिलता है। यहाँ प्राचीन धातु-मल के ढेर भी मिलते हैं।

(iii) दिल्वारा किरोली (जिला उदयपुर) क्षेत्र से दिल्वारा कोत्री, विलोटा और किरौली में प्राचीन खुदानें मिली हैं, दिल्वारा और किरौली में प्रचुर मात्रा में धातु मल के ढेर प्राप्त हुए हैं। कैल्कोपाईराइट और गैलेकाइट (6·8% ताम्र) यहाँ के मुख्य खनिज हैं।

(iv) देवारी (जिला उदयपुर) क्षेत्र से कैल्कोपाईराइट, कुपराइट, एजुराइट और बोरनाइट मिलते हैं। राजगुरु और मजूमदार ने इस क्षेत्र में कई अन्य स्थलों का भी वर्णन किया है। राजस्थान के भ्रंश मंडल (fault zone) में होने के कारण ही यहाँ अधिकांश अयस्क भंडार स्थित हैं। अधिकांश प्राचीन खानें क्वार्ट्जाइट (स्फटिक) चट्टानों पर स्थित हैं। राजगुरु व मजूमदार के अनुसार इस क्षेत्र से मिला धातु मल विभिन्न आकार, माप, रचना, घनत्व आदि का है। यह फेन सदृश कांच जैसे हलके रूप से लेकर भारी लोह युक्त प्रकार तक हैं। इन ढेरों से ताम्र प्रगलन के अन्य प्रमाण (मूषा आदि) भी मिले हैं। इसी प्रकार का फेनल काचाभ धातुमल अहाड़ में भी पाया गया, जिसका विश्लेषण हेग्डे ने किया है।

श्री निवास के अनुसार मौर्य काल से खेत्री ताम्र भंडार का खदान होता रहा है। अब्दुल फजल (1590 ई०) ने भी इन खानों का वर्णन किया है। और वर्तमान काल में कैप्टन वैल्यो (1830 ई०) ने सर्वप्रथम इन खानों का पता लगाया। सनाहु उल्लाह के मतानुसार सिंधु सभ्यता के संभावित ताम्र स्रोत, बलूचिस्तान में शाह बल्लाउल, राबात, रासकूह और कोजक उमरान, अफगानिस्तान मे शाह मकसूद और कालिहजेरो, ईरान में अवारक और भारतवर्ष में अजमेर, सिरोही, मेवाड़ और जयपुर हो सकते है। इनके अतिरिक्त पास्को ने भी अन्य स्थलों का वर्णन किया है। उनके विचार से सान्निध्य के कारण से जयपुर जिला, शाह मकसूद और राबात संभवत: सिंधु सभ्यता के ताम्र के स्रोत रहे हों। फोर्ब्स के मतानुसार प्राचीन काल में ताम्र प्रगलन शान राज्य, इंदौर नैल्लोर, किस्तना जिले में काठियावाड़ में रूपवती, उत्तरी गुजरात में अंबर माता और कुंमारिया और नेपाल में होता था। पर यह निश्चित नहीं है कि ये धातुकर्म यहाँ यूनानी काल से पूर्व भी होता था। कुंमारिया की खानों की कार्बन तिथि केवल एक हजार साल पुरानी है। ताम्र भंडार की ये पट्टी पूर्व में ईरान से होती हुई कैस्पियन सागर और ट्रांसकाकेशिया से भी आगे तक चली गयी है। इसके अन्तर्गत काबुल के निकट बामियान, काफिरिस्तान आदि प्राचीन खानें हैं। अस्तराबाद के निकट, कालेह और एल्बुर्ज पहाड़ियों में ताम्र खानें हैं। कशान, कोहुन्द और इस्फ़हान जिलों में भी अनेक महत्वपूर्ण खानें हैं। मैलोवन ने मगन के प्राचीन ताम्र पूर्ति केन्द्र अगरोस पहाड़ों और ईरान की खानों को माना है। मैके का विचार है कि सिंध में ताम्र का आयात संभवतः ईरान से हुआ, क्योंकि वहाँ टीन व ताम्र अयस्क बहुलता से उपलब्ध है। डेस्क ने मोहनजोदड़ो से प्राप्त एक आक्साईड अयस्क का विश्लेषण किया था।

ताम्र की ढलाई को सुधारने के लिए उसमें टीन और संखिया मिलाया जाता था। अब हम टीन, संखिया और सीसे के अयस्क भंडारों का वर्णन करेंगे।

घ. टीन अयस्क

टीन का मुख्य अयस्क कैसिटेराइट है जिसमें 78·6% तक टीन होता है। लेकिन यह अयस्क, स्फटिक के अंदर पतली नसों के रूप में ऐसा मिला होता है कि केवल 0·2 से 2·0% टीन तक ही इसमें उपलब्ध हो पाता है। ऐसी नसों के रूप में टीन ग्रेनाइट चट्टानों में भी काफी होता है और धीरे-धीरे चट्टानों के विघटन से मिट्टी में घुल-घुलकर नदियों की मिट्टी में मिलता रहता है।

एशिया माइनर में दारमन लार, मुरादबाग और कस्तमुनि, काकेशस और ट्रांसकाकेसिया क्षेत्र में बेलारिया नदी की घाटी, एल्बुर्ज और टेरेक पहाड़ियों के मध्य के क्षेत्र, गौरी क्षेत्र, और कारादाग पर्वत, ईरान में टाबरिज के निकट कूह-सेहेंद, अस्तराबाद और दमगन के निकट कूह-ए-बेनान और एशिया में बैकल झील के समीप, बर्मा और मलाया से बिल्लोटोन तक टीन की मुख्य प्राचीन खानें थीं।

ड. भारतवर्ष के टीन अयस्क

यद्यपि देश में प्रतिवर्ष टीन की खपत 4500 टन से भी ज्यादा है, तथापि यहाँ टीन का उत्पादन नहीं के बराबर है। बिहार में हजारीबाग, रांची, गया, गुजरात में बनास कांठा, मैसूर में धारवार, राजस्थान में भिलवाड़ा में टीन अयस्क भंडारों का पता चला है। परंतु ये सब खानें आर्थिक दृष्टि से लाभदायक नहीं हैं। प्राचीन भारत में टीन खदान का कोई संकेत नहीं मिलता। संभवतः नदी की बालू में मिली टीन ही का प्रयोग किया जाता था। यह भी संभव है कि सिंध में खुरासान और कारदाग की खानों से टीन का आयात हुआ हो।

च. संखिया के अयस्क

संखिया के दो अयस्क मैनसिल और हरताल आज भी देश में आयात होते हैं। पश्चिमी बंगाल, राजस्थान, कश्मीर और बिहार में संखिया उपलब्ध है। लेकिन ये अयस्क आर्थिक दृष्टि से खनन योग्य नहीं हैं।

सिंधु सभ्यता के ताम्र उपकरणों में भी संखिया पर्याप्त मात्रा में है। यदि संखिया 1% से कम हो तो यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि यह ताम्र

अयस्क के कारण है या लौलिंगाइट जैसी अयस्कों के लेकिन 1% से अधिक संखिया का मिश्रण निस्संदेह पूर्व आयोजित समझा जा सकता है।

ख. सीसे का अयस्क

कहा जाता है कि राना लखन सिंह (1382-97 ई०) के समय से जावर में सीसे का खदान होता रहा है। यद्यपि सीसे की खानें कुर्नूल, अग्निगुंडाला (गुंटूर), कश्मीर, बरौला व अल्मोड़ा आदि में भी हैं पर आर्थिक दृष्टि से जावर की खान ही उपयोगी है।

ताम्र को अधिक गलनीय बनाने के लिए ताकि ढलाई में सुगमता रहे, उसमें सीसा मिलाया जाता था। हड़प्पा तथा अन्य ताम्राश्मीय स्थलों के ताम्र उपकरणों में यह पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

सिंधु सभ्यता के स्थलों से अनेक सीसे के उपकरण व अयस्क मिले हैं। मोहनजोदड़ो के अयस्क के हमारे विश्लेषण से ज्ञात हुआ है कि उसमें केवल एंटिमनी और सीसा है।

IV—प्राचीन अयस्कों और खनन क्षेत्रों की खोज

पहले हम अयस्कों के प्रकारों को निश्चित करने का प्रयत्न करेंगे (इन आपेक्षित संभावनाओं के परिकलन का वर्णन अग्रवाल की पुस्तक (Copper Bronze Age in India में किया गया है।)

हड़प्पा में केवल आक्साइड अयस्क (मैलाकाइट) के प्रयोग की संभावनाएँ अधिक हैं। परंतु मोहनजोदड़ो के प्रारंभिक काल से ही सल्फाइड अयस्क का प्रगलन किया जाता था। मोहनजोदड़ो और रंगपुर में संभवतः प्राकृत और आक्साइड अयस्क सामान्यतः प्रयोग किया जाता था। मोहनजोदड़ो से (D. K. क्षेत्र, कमरा नं० 51 के एक गड्ढे में) प्रचुर मात्रा में ताम्र ऑक्साइड अयस्क के साथ कुछ सीसा भी मिला है। यद्यपि प्रारंभ से ही सल्फाइड अयस्क से शुद्ध ताम्र निकाला जाता रहा था, फिर भी इस खोज से स्पष्ट हो जाता है कि सिंध में आक्साइड अयस्क का प्रयोग प्रगलन के लिए आमतौर पर किया जाता था। ऐसा प्रतीत होता है कि सैंधव लोग प्राकृत और आक्साइड अयस्कों का प्रयोग शायद नयी-नयी खानों के सुलभ होने के कारण करते थे। साधारणतया ताम्र के प्राकृत और आक्साइड रूप, खान की ऊपरी सतह से प्राप्त होते हैं। अतः प्राकृत व आक्साइड रूपों की प्रचुरता नयी खानों के उपयोग का आभास देती है।

रंगपुर में केवल प्राकृत व आक्साइड धातुओं का प्रयोग नयी खानों (काठियावाड़ में रूपवती) के उपयोग की ओर इंगित करती है।

ताम्राश्मीय शिल्प उपकरणों में आक्साइड अयस्कों के प्रयोग की अधिक संभावनाएँ हैं। अब तक प्राप्त 13 उपकरणों के विश्लेषण से सल्फाइड अयस्कों के प्रयोग की संभावनाओं का आभास नहीं मिलता।

ताम्राश्मीय संस्कृतियों का धातु कर्म, इसकी अनगढ़ ढलाई, उपकरणों के सादा आकार, सिंधु सभ्यता की तुलना में धातु की न्यूनता, संखिया-मिश्रण व सल्फाइड अयस्क प्रगलन की अनभिज्ञता, व टीन के अल्प अंश (5% से कम) आदि के कारण, हड़प्पा संस्कृति के विकसित धातु कर्म ज्ञान से काफी भिन्न है। हड़प्पा संस्कृति और ताम्राश्मीय संस्कृतियों की धातु कर्म परंपराओं की स्पष्ट भिन्नता इस बात का द्योतक है कि हड़प्पा संस्कृति ने इस परवर्ती संस्कृतियों को तकनीकी ज्ञान में विशेष प्रभावित नहीं किया। सैंधव स्तर की तुलना में ताम्राश्मीय धातुकर्म और शिल्प काफी पिछड़ा लगता है। चित्रित धूसर मृद्भांड और नवाश्मी युग के ताम्र उपकरणों के विश्लेषण इतने कम हैं कि उनसे अयस्कों के उपयोग के विषय में कुछ पता लगाना दुस्साध्य है।

विभिन्न संस्कृतियों के तत्कालीन क्षेत्रों को निश्चित करने के लिए बड़ी संख्या में नमूनों की आवश्यकता है, जब कि अब तक केवल कुछ ही अयस्क प्राप्त हुए है जिनको जाँच की गयी है। केवल खेत्री और सिंगभूम, मद्रास व मोहनजोदड़ो से प्राप्त अयस्कों के ही विश्लेषण अब तक प्राप्त हैं। सिंगभूम के पाइराइट में संखिया, एंटीमनी और सीसा नहीं है, जब कि ये सैंधव शिल्प उपकरणों में पर्याप्त मात्रा में हैं।

सैंधव उपकरणों की विविध अयस्कों से तुलना करने पर ज्ञात हुआ कि खेत्री अयस्कों और सैंधव उपकरणों की अशुद्धियों में निकट का साम्य है। सिंहभूम के केल्कोपाईराइट और मद्रास के पिरहोटाइट और सैंधव अशुद्धियों में बहुत सी असमानताएँ हैं। अब तक के थोड़े से विश्लेषणों के आधार पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि खेत्री ही संभावित सैंधव ताम्र खनन क्षेत्र रहा होगा। इसकी पुष्टि अधिकांशतः प्राकृत और आक्साइड अयस्कों के प्रयोग से भी होती है, जो कि प्रचुर मात्रा में एक नवीन खान के ऊपरी हिस्से से ही उपलब्ध हो सकते थे। वैसे भी सिंहभूम की दूरी व दुर्गमता उसके सैंधव ताम्र स्रोत होने की संभावनाओं को असंभव बना देती हैं।

दूसरी ओर, ताम्राश्मीय संस्कृतियों के शिल्प उपकरणों और खेत्री अयस्कों की स्पेक्ट्रमी विश्लेषणों की तुलना दर्शाती है कि उनमें भी पर्याप्त समानताएँ हैं। लेकिन निश्चित निष्कर्ष निकालने के लिए पर्याप्त नमूनों का विश्लेषण करना अति आवश्यक है। उपर्युक्त विश्लेषणों के आधार पर अभी यही कहा जा सकता है कि राजस्थान के ताम्र अयस्कों का उपयोग हड़प्पा व ताम्राश्मीय दोनों संस्कृतियाँ ही करती रहीं। पुरालेखों के अनुसार मेसोपोटामिया में मेलुहा से ताम्र आयात किया जाता था। यदि मेलुहा भारतवर्ष में था तो राजस्थान के प्रचुर अयस्क भंडारों का खनन ही यह संभव बनाता है कि यहाँ से प्राचीन ईराक को ताम्र निर्यात होता रहा हो।

V—ताम्र प्रगलन व धातु मिश्रण

क. प्रगलन

फोर्ब्स के मतानुसार ताम्र धातु कर्म का विकास निम्न चरणों में हुआ होगा।

प्रथम चरण—प्राकृत ताम्र को हथौड़िया कर, काट कर, मोड़ कर, घिस कर व चमका कर आकार देना।

द्वितीय चरण—प्राकृत ताम्र को गर्म लाल करके हथौड़िया कर तापानुशीतन करना।

तृतीय चरण—आक्साइड और कार्बोनेट अयस्कों का प्रगलन। मिट्टी से लिपी हुई भट्टी में कोयले या लकड़ी जला कर अयस्कों का प्रगलन। इस क्रिया में शुद्ध ताम्र प्रायः अलग हो जाता है और धातु मल फेंक दिया जाता है।

चतुर्थ चरण—ताम्र का द्रवीकरण और ढालना। मूषा में ताम्र गला कर साँचों में ढाला जाता है।

पंचम चरण—सल्फाइड अयस्क पहले गंधक निकालने के लिए भूना जाता है। फिर भूना हुआ अयस्क भट्टी में प्रगलित किया जाता है। भूनने और प्रगलन की प्रक्रियाएँ दोहराई जाती हैं ताकि उत्तरोत्तर शुद्ध ताम्र प्राप्त हो सके और धातु मल निकाला जा सके। अंत में शुद्ध ताम्र के उपकरण ढालने आदि से बनाए जाते हैं। इस प्रकार 99·5% शुद्ध ताम्र उपलब्ध किया जाता है। हवा धौंकने से ताम्र आक्साइड बनने के कारण ताम्र भंगुर हो जाता है अतः यदि द्रवित धातु में कच्चा (हरी) तना या डाल डाला जाय तो यह एकदम आग पकड़ लेती है और उससे अनेक हाइड्रोकार्बन गैसें निकलने लगती हैं। फलस्वरूप

ताम्र आक्साइड का अपचयन (Reduction) हो जाता है। इस प्रक्रिया को पोलिंग कहते हैं। ताम्र उत्पादन के लिए उचित पोलिंग अति आवश्यक है। हमारी ताम्राश्मीय संस्कृतियों के उपकरणों में ताम्र आक्साइड की उपस्थिति इस बात का द्योतक है कि उन्हें 'पोलिंग' का पूर्ण ज्ञान नहीं हुआ था। जब से सल्फाइड अयस्कों का उपयोग होने लगा तब से ही ताम्र उपकरणों में अशुद्धता की वृद्धि होने लगी।

ख. धातु मिश्रण

ताम्र की ढलाई के गुणों को सुधारने के लिए उसमें अन्य धातु मिश्रित किये जाते हैं। धातु जब गर्म किये जाते हैं तो वे गैसों को आत्मसात कर लेते हैं। शुद्ध ताम्र ढालने पर ऐसी आत्मसात गैसें छोड़ता है। इससे ढले हुए उपकरण में छोटे-छोटे छेद हो जाते हैं। टीन और संखिया मिलाने से ताम्र में गैस बहुत कम रह जाती है। बिना धातु मिश्रण के जटिल उपकरणों का ढालना संभव नहीं है।

1·04% संखिया मिलाने से हथौड़ियाये हुए ताम्र की कठोरता 124 से बढ़कर 177 (ब्रिनेल इकाइयाँ) हो जाती है। केवल हथौड़ियाने से ही शुद्ध ताम्र की कठोरता 87 से 135 (ब्रिनेल) बढ़ जाती है जो काँसे की कठोरता के समतुल्य है। लेकिन धार तेज करने के लिए बार-बार हथौड़ियाने की आवश्यकता पड़ती है। जिसके फलस्वरूप हथियार बिलकुल भंगुर हो जाता है। शुद्ध ताम्र की अपेक्षा हथौड़ियाने से कांस्य अधिक कठोर बन जाता है। 8.12% टीन का मिश्रण ताम्र के लिए सर्वोत्तम है।

प्राचीन काल के कांस्य की व्याख्या में विद्वानों में मतभेद है। कोगलन के मतानुसार कांस्य में 5 से 15% टीन होना चाहिए। इससे कम टीन की उपस्थिति को वह आकस्मिक समझता है। जब कि टाइलकोट सभी धातु मिश्रणों को जिसमें 1% से अधिक टीन हो कांस्य की श्रेणी में रखता है। गोवलेंड और बर्टन के दावे के बावजूद थामसन 1% से कम टीन या संखिया वाले ताम्र को जानबूझ कर बनाया कांस्य नहीं मानता। ऐसा मिश्रण अशुद्ध अयस्कों के प्रयोग के कारण हो सकता है।

अब नीचे पश्चिमी एशिया में कांस्य उत्पादन तथा इस तकनीक के सर्वप्रथम भारत की पश्चिमी सीमा में प्रसार के इतिहास पर प्रकाश डालेंगे।

(i) एशिया में धातु मिश्रण

ट्राय प्रथम, थर्मी प्रथम, अलिशार प्रथम और टेपे गावरा अष्टम के 2500 ई० पूर्व से भी पहले के यत्र तत्र फैले कांस्य भंडारों में 10% टीन मिश्रण है। इससे स्पष्ट होता है कि इस प्राचीन काल में भी कुछ क्षेत्रों में धातु मिश्रण पर प्रयोग होने लगे थे। ज्योय टेपे K काल में संखिया का उच्च अंश, कांस्य के लिए धातु मिश्रण का ज्ञान दर्शाता है। संभवतः ताम्र को कठोर बनाने व उचित रीति से ढालने के लिए, संखिया जानबूझ कर मिलाने का विचार ज्योय टेपे में G काल के लोगों के आगमन के साथ हुआ। उर की राजकीय कब्रों के कांस्य में 0·5 से 14·5% तक टीन मिश्रित है। प्रारंभिक कांस्य में हर प्रकार की अशुद्धियां हैं, जब कि परवर्ती काल में नहीं हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे ये कांस्य शुद्ध पोलिंग किये ताम्र व टीन अयस्क मिलाकर बनाये गये थे, संखिया व एंटीमनी के स्थान पर टीन का प्रयोग निश्चित रूप से प्रयोगात्मक कहा जा सकता है।

परवर्ती काल में ताम्र कर्मियों ने ताम्र के साथ सीसा मिश्रण करके द्रवणांक को नीचे लाने की विधि ज्ञात कर ली थी। इसीसे लुप्त मोम की ढलाई संभव हो सकी। लेकिन टीन और कांस्य मिश्रण के उदाहरण कोई नहीं मिले। टीन-कांस्य के उदाहरण प्रारंभिक राजवंश (Early Dynastic) काल के ही मिले हैं। इस काल में टीन की कांस्य में मात्रा 1 से 11% तक थी। परंतु सार्गोन काल के किश और उर में पूर्वकालीन 10% टीन की अपेक्षा केवल 1% से भी कम टीन है। अतः इस काल में टीन की यह मात्रा अशुद्धता के कारण ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि पश्चिमी एशिया से टीन का आयात तीन सहस्र ई० पूर्व बंद हो गया था। तीसरी सहस्राब्दी ई० पूर्व के अंत में, बोहेमिया और सैक्सोनी टीन अयस्कों के उपलब्ध हो जाने से, कांस्य का उत्पादन पुनः प्रारंभ हो गया था। दर्पण की प्रतिबिंबन शक्ति प्राप्त करने के लिए रोमनों ने 23 से 28% टीन व 5 से 7% सीसा मिश्रण करने का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। टीन और सीसे का ज्ञान कुल्ली और सिंधु सभ्यता के लोगों को भी था। इन संस्कृतियों से प्राप्त दर्पणों का विश्लेषण करना इसलिए महत्वपूर्ण होगा ताकि उनसे प्रतिबिंबन की मात्रा का अनुमान लगाया जा सके।

(ii) भारतवर्ष में धातु मिश्रण

प्राग्हड़प्पा स्थलों से अधिक विश्लेषण प्राप्त नहीं हैं। मुंडीगाक से एक अल्प टीन (1.06%) कांस्य (?) का नमूना मिला है। नाल के एक अन्य उपकरण

में टीन मिश्रण नहीं है, जबकि सीसा 2·14% है। हड़प्पा संस्कृति के उपकरणों में टीन की मात्रा की विविधता अधिक है।

प्रतिशत उपकरण	70%	10%	14%	6%
टीन मात्रा प्रतिशत	1%	8%	8 से 12%	12%

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि 70% उपकरण कांस्य के नहीं थे। केवल 14% उपकरणों में ही अधिकतम कठोरता और तन्यता संभव थी, क्योंकि उनमें 8 से 12% टीन मिश्रण है। एक कांस्य छड़ में 22% से भी अधिक टीन है। इससे स्पष्ट होता है कि यद्यपि हड़प्पा संस्कृति में धातु मिश्रण किया जाता था पर उपयुक्त अनुपात में धातु मिश्रण के नियंत्रण का ज्ञान नहीं था। संभवतः संखिया अयस्क के रूप में मिलाया जाता था। नाल से लौह-संखिया अयस्क भी मिला है। अग्रवाल के विश्लेषण के अनुसार मोहनजोदड़ो से प्राप्त उपकरणों में ऊपरी सतह वाले 23% उपकरण कांस्य के हैं, जब कि निम्न सतहों वाले 6% से भी कम कांस्य के हैं। मुख्यतः चाकू, कुल्हाड़ियाँ व छेनियाँ टीन कांस्य की बनी हैं। लेकिन 70% ताम्र उपकरणों में टीन नहीं के बराबर है। रंगपुर के छः उपकरणों में टीन 2·6 से 11·7 है, इनमें से तीन में, 1·8 से 5·8% रांगा (निकल) है। इनमें सीसा या संखिया नहीं है।

अग्रवाल के अनुसार मोहनजोदड़ो के 177 विश्लेषित शिल्प उपकरणों में, 8% उपकरणों में संखिया 1 से 7% तक, केवल 4% में निकल (रांगा) 1 से 9% तक, 6% में सीसा 1 से 32% तक मिश्रित था। हथोड़ियाने से 1% संखिया भी ताम्र की कठोरता में 124 से 177 (ब्रिनेल) वृद्धि कर देता है। हो सकता है कि संखिया के इस गुण का उन्हें समुचित ज्ञान न हो। संभवतः संखिया का उपयोग ढलाई सुधारने के लिए ही किया जाता था।

ताम्राश्मीय स्थलों के ताम्र उपकरणों में संखिया नहीं है। लेकिन 1 से 2% तक सीसे का मिश्रण सामान्यतः मिलता है जो कि संभवतः उत्तम गलनशील के लिए किया गया था। जोर्वे कुल्हाड़ी में 1·78% निवासा की एक छेनी में 2·7% और नवदाटोली के तीनों उपकरणों में टीन 3 से 5% तक, और सोमनाथ के कुल्हाड़े में 12·8% है। उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि इन लोगों को धातु मिश्रण का ज्ञान था, यद्यपि सोमनाथ के अतिरिक्त अन्य किसी स्थल के उपकरण में टीन की उच्चतम मात्रा 8% से 12% के बीच नहीं है। अहाड़ के उपकरणों में टीन की अनुपस्थिति महत्वपूर्ण है।

न तो टैक्कलाकोटा की कुल्हाड़ी और न लांघनाज के चाकू में टीन या संखिया मिश्रण है, न ही हस्तिनापुर के चि० घू० भांड स्तर के दो उपकरणों

में। सोनपुर प्रथम काल की एक छड़ में टीन 1·4% और द्वितीय काल की एक चूड़ी में 1·9% जब कि चम्मच की एक मूठ में यह 32% है। चिरांद के तीनों उपकरण शुद्ध ताम्र के हैं।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि टीन, सीसा व संखिया के उच्चतम मिश्रण की दृष्टि से हड़प्पा के उपकरण ताम्राश्मीय उदाहरणों से भिन्न हैं, ताम्राश्मीय स्थलों के उपकरणों में संखिया मिश्रण है ही नहीं, टीन का मिश्रण भी (सोमनाथ के कुल्हाड़े के अतिरिक्त) 5% से अधिक नहीं है।

लाल के कथनानुसार पश्चिम एशिया के हत्थेदार कुल्हाड़े, बसूले आदि के विपरीत ताम्र-संचय उपकरण शुद्ध ताम्र के हैं। वैसे स्मिथ ने कांस्य के कुछ संदिग्ध उदाहरण दिये हैं। लेकिन लाल ने बिसौली मानवाकृति उपकरण (anthropomorph) का विश्लेषण करने पर उसे शुद्ध पाया (ताम्र 98·77%, निकल 0·66%)। अग्रवाल ने पांच ताम्र संचय उपकरणों के नमूनों का परीक्षण किया, लेकिन किसी में भी टीन नहीं था। अतः अब तक प्राप्त प्रमाण लाल के मत को पुष्ट करते हैं कि ताम्र संचय वाले लोगों को धातु मिश्रण का ज्ञान नहीं था। स्मिथ के अधिकांश नमूने ब्रिटिश संग्रहालय से लिये गये हैं, जिनका निश्चित स्थान ज्ञात नहीं है। अतः वे अधिक विश्वसनीय नहीं हैं।

प्राप्त सीमित तथ्यों के आधार पर फिलहाल निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

(i) हड़प्पा संस्कृति में टीन, संखिया व सीसे का प्रयोग होता था।
(ii) बनास संस्कृति वाले केवल सीसा मिश्रित करते थे।
(iii) मालवा और जोर्वे संस्कृति में टीन और सीसे का प्रयोग होता था।
(iv) ताम्र संचय संस्कृति के लोग केवल शुद्ध ताम्र का प्रयोग करते थे।

VI—धातु शिल्प

यहाँ हम धातु गढ़ाई व ढलाई की तकनीकों का अध्ययन करेंगे। प्रत्येक संस्कृति की अपनी विशिष्ट तकनीकें हैं जिनके अध्ययन द्वारा ही हम प्रागैतिहासिक संस्कृतियों के बीच समानताओं व असमानताओं को समझ सकते हैं। पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि इराक व ईरान की अपेक्षा भारत में धातु शिल्प का ज्ञान बहुत परवर्ती है। सैंधव संस्कृति में हमें एकाएक पूर्ण विकसित धातु शिल्प तकनीक देखने को मिलती है। अभी तक अपने देश में उत्खनन इस प्रकार के धातुकर्मीय और धातुशास्त्रीय विश्लेषण में रुचि नहीं

लेते रहे, जिसके कारण नमूनों का बहुत अभाव है। इसलिए निम्न अध्ययन प्राप्त सीमित आंकड़ों के आधार पर ही किया गया है।

मैके ने ताम्र बर्तनों पर पीटने के निशान देखे हैं। इसी प्रकार चाकुओं, भालों, तीरों, उस्तरों आदि पर भी पीटने और हथौड़ियाने के चिह्न इन तकनीकों के प्रयोग दर्शाते हैं। 'कोल्ड वर्क' अथवा ठंडे धातु को पीट कर उपकरण बनाने की तकनीक के प्रमाण सैंधव और ताम्राश्मीय दोनों संस्कृतियों में मिलते हैं। तापानुशीतन की तकनीक का प्रयोग हड़प्पा संस्कृति व ताम्राश्मीय संस्कृतियों दोनों में हुआ है। परंतु ताम्र-संचय संस्कृति के उपकरणों में अभी तक इस तकनीक के प्रयुक्त किये जाने के उदाहरण नहीं मिले हैं।

धातु के दो या अधिक टुकड़ों को जोड़ने की अनेक तकनीकें प्रचलित थीं। हड़प्पा संस्कृति में रिवेटिंग व लैपिंग का प्रयोग होता था। यद्यपि ताम्र ढालने के कोई प्रमाण अभी तक नहीं मिले हैं, फिर भी सोने और चांदी के ढालने के उदाहरण हड़प्पा संस्कृति से मिलते हैं।

ढलाई कई प्रकार से की जाती थी—खुले-सांचों में, सांचों के कई टुकड़ों में, बंद सांचों और लुप्त मोम की प्रक्रिया से। खुले हुए सांचे चांहुदड़ो से मिले हैं जिनमें चपटी कुल्हाड़ियाँ ढाली जाती थीं। ताम्र संचय के कुछ उपकरणों में दोहरे सांचे प्रयोग करने के स्पष्ट साक्ष्य हैं। सिंधु-सभ्यता से प्राप्त नर्तकी की प्रतिमाओं से आभास होता है कि ये लुप्त मोम विधि से ढाली गयी थी। इन सभी संस्कृतियों में खुले सांचों का उपयोग सर्वाधिक है।

VII—विभिन्न संस्कृतियों के धातु उपकरण

मुंडीगाक, नाल और मेही के अलावा अन्य प्राग्हड़प्पा संस्कृतियों से धातु बहुत कम मात्रा में मिली है। केवल नाल से ही बसूला, छेनी और आरियों सहित 18 उपकरण मिले हैं। स्याह दंब और अंजीरा से कोई भी धातु उपकरण अब तक उपलब्ध नहीं हुआ। दंब सदात काल II से केवल कुछ ताम्र टुकड़े और एक कटार, कोटदीजी I से केवल एक चूड़ी और कालीबंगन I से तीन उपकरण ही मिले हैं।

उपर्युक्त अन्य संस्कृतियों की अपेक्षा सैंधव सभ्यता ताम्र की दृष्टि से अधिक सम्पन्न थी। मोहनजोदड़ो के D. K. टीले से ही केवल 14 भालाग्र, 17 बाणाग्र, 18 उस्तरे, 23 कुल्हाड़े, 53 छेनियाँ, 11 मत्स्य कांटे, 64 चाकू, एक कुल्हाड़ी-बसूला, और दो तलवारें मिली हैं। इसी प्रकार चांहुदड़ो के केवल एक टीले के चार बड़े भांडारों से, प्रत्येक में 16 से 28 उपकरण मिले। इन

हथियारों के अतिरिक्त अन्य सैंधव स्थलों से बहुत बड़ी संख्या में विभिन्न प्रकार के धातु-पात्र मिले हैं।

धातु कर्म की प्रचुरता नागरीकरण की भी सूचक है। मेसोपोटामियाँ के उरूक काल में भी एकाएक धातु के प्रचुर प्रयोग के साथ-साथ नागरीकरण का उद्भव देखते हैं। दूसरी ओर ताम्राश्मीय संस्कृतियों में अपेक्षाकृत धातु कम प्रयोग होने के कारण उनका नागरीकरण नहीं हो सका। संभवतः अविकसित धातु शिल्प ज्ञान के कारण वे अतिरिक्त कृषि उत्पादन न कर सके हों।

निम्न स्थलों से प्राप्त उपकरणों की प्रचुरता के आधार पर उन्हें ताम्राश्मीय संस्कृति के अंतर्गत रखना उचित ही है। नवदाटोली—छेनियाँ, 4 चपटी कुल्हाड़ियाँ, हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी, 2 मत्स्य कांटे, अधूरे मनके तथा तारों के टुकड़े। चंदोली से 2 छेनियाँ, 1 कुल्हाड़ी, 1 कटार, 3 मत्स्य काँटे, 1 ताम्र छड़, 14 मनके, 3 चूड़ियों के टुकड़े, 1 छल्ला, और 1 टूटा हुआ पायल। कायथा से 2 मोटे ताम्र कुल्हाड़े, बहुत सी चूड़ियाँ और 1 छेनी। निवासा से 1 छेनी, 1 तश्तरी, 1 छड़, 1 पात्र, 2 चूड़ियाँ, 1 कुरेदनी और 7 मनके। जोर्वे से 6 चपटी कुल्हाड़ियाँ और 1 चूड़ी। महाड़ से प्राप्त धातु मल और चंदोली से मिले अनगढ़ बालू का साँचा आदि से धातु कर्म के ज्ञान का आभास होता है।

ताम्राश्मीय स्थलों की अपेक्षा दक्षिण के नवाश्मीय स्थल ताम्र की दृष्टि से समृद्ध नहीं हैं। उदाहरणार्थ ब्रह्मगिरि से केवल 1 ताम्र छेनी और 2 छड़ें मिली हैं।

अब हम हथियारों के विश्लेषणों के आधार पर विभिन्न संस्कृतियों की विशिष्टताओं तथा संबंधों का वर्णन करेंगे। शिल्प उपकरणों की उपर्युक्त सूची विभिन्न संस्कृतियों की महत्वपूर्ण विशिष्टताओं को दर्शाने के लिए ही प्रस्तुत की गयी है।

क. प्राग्हड़प्पा संस्कृतियाँ

केवल मुंडीगाक तथा नाल से प्राप्त हथियारों का वर्गीकरण यहाँ किया गया है। नाल से बसूले, आरियाँ, छेनियाँ और चाकू मिले। हड़प्पा की तुलना में नाल की छेनियाँ अधिक अनगढ़ हैं। मोहनजोदड़ो के लंबे फलकों के विपरीत नाल की कुल्हाड़ियों के सिरे गोल या नुकीले हैं। अन्य प्रकारों का उनका बहुत सामान्य होने के कारण, तुलनात्मक दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं है। हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी व बसूला मेसोपोटामियाँ के उरूक काल से, हिस्सार

III C और सूसा के पूर्व राजवंशीय (Protodynastic) काल से प्रचलित थे। इस प्रकार की हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ियाँ बसूला, मुंडीगाक के III 6 से मिलते हैं। इन प्रमाणों को दृष्टि में रखते हुए हड़प्पा स्तर से प्राप्त ऐसे कुल्हाड़ी-बसूला का मिलना बेमेल नहीं है। इसलिए उन्हें उत्तरकालीन स्थानांतरण से नहीं जोड़ा जा सकता। यद्यपि लांबर्ग-कार्लोवस्की ने मुंडीगाक काल II से प्राप्त रीढ़दार कटार का वर्णन किया है, लेकिन कज़ाल, जिसने इस स्थल का उत्खनन किया, द्वारा प्रस्तुत चित्र में वह चपटी दिखायी गयी है। मुंडीगाक काल II की लहरदार सिरे वाली पिन की तुलना सैंधव नमूनों से की जा सकती है।

ख. हड़प्पा संस्कृति

कुछ विशिष्ट प्रकार के उपकरण (अध्याय 3 में वर्णित) सैंधव सभ्यता के विशेषक हैं, जैसे उस्तरे, चाकू, मुड़े सिरे के चाकू, चौड़ी कांसवाली छेनियाँ, कटीले बाणाग्र, तराजू के लिए कमानी का प्रयोग भी अपूर्व है। कई प्रकार के उस्तरे मिले हैं जिनमें से द्वि-धार वाले एक विशिष्ट प्रकार के हैं। अन्य प्रकार हैं—L आकार के कांटेदार व सादे फलक वाले उस्तरे। चांहूदड़ो से उस्तरे के दो अन्य प्रकार, U आकार व अर्द्धचन्द्राकार के मिले हैं। चाकुओं के विभिन्न प्रकार हैं, तिकोना और मुड़े सिरों के पत्तों के आकार के फलक। पत्ती के आकार, संकरे, और सीधे और मुड़े धारवाले दराट के फलक दुष्प्राप्य हैं। मार्शल ने एक, और मैके ने एक अन्य संदिग्धपूर्ण नमूने का वर्णन किया है। मार्शल की दराट की बाह्य सिरे की धार तेज थी, जबकि भीतरी भाग कुंद था। बड़ी संख्या में विभिन्न आकार की छेनियाँ मिली हैं। केवल मोहनजोदड़ो से प्राप्त 15 छेनियों का मार्शल ने वर्णन किया, जबकि मैके ने 67 का। वे आयताकार, वर्गाकार व गोलाकार प्रकार की लंबी व छोटी दोनों आकार की हैं। चौड़ी आयताकार नोक और सकरे फलक के प्रकार हड़प्पा संस्कृति की अपनी विशिष्टताएँ हैं।

भालाग्र और बाणाग्र बहुत पतले हैं। चांहूदड़ो के बाणाग्र 0.02″ से 0.05″ की मोटी पत्तर के बने हैं। उन पर पीछे की ओर मुड़े हुए कांटे हैं। वे इतने पतले हैं कि लकड़ी के सहारे के बिना मुड़ गये होते। मैके के मतानुसार ऐसे निम्न कोटि के उपकरण सैंधव न होकर किसी अन्य विजित लोगों के रहे होंगे, लेकिन इन्हें मोहनजोदड़ो के सभी स्तरों, हड़प्पा, चांहूदड़ो, कालीबंगन और लोथल से मिलने के कारण हड़प्पा संस्कृति की ही एक विशिष्टता कह सकते हैं।

हड़प्पा, चांहूदड़ो और लोथल से बिना दाँतों की आरियाँ मिली हैं, जो बहुत कम है। एक नमूने में दाँते वास्तविक आरी के से लगाये गये थे, जो कि रोमन काल से पूर्व अन्य कहीं नहीं मिले। लंबे और छोटे दोनों प्रकार की फलक-कुल्हाड़ियाँ प्रयोग की जाती थीं। चपटे और हत्थे के लिए, छेदवाली कुल्हाड़ियों के सादे प्रकार, सैंधव स्थलों से ही नहीं बल्कि अन्य संस्कृतियों से भी उपलब्ध हुए हैं।

सैंधव संस्कृति के सभी स्थलों से मत्स्य-कांटे मिलते हैं। उनके सिरे पर एक छेद है और नुकीले सिरे पर एक कांटा। बिना कांटे के कुछ उपकरण भी मिले हैं। कहा जाता है कि ताम्राश्मीय स्थलों से भी ऐसे मत्स्य कांटे मिले हैं, परंतु चंदोली के कांटे संदिग्धपूर्ण नमूने हैं जो कि बिना तीखे सिरे व छेद या कांटे की, मुड़ी हुई छड़ें हैं। अतः उनके मत्स्य कांटे होने में संदेह है। मेसोपोटामिया या मिस्र की अपेक्षा सैंधव नमूने अधिक बढ़िया हैं।

कोगलन के अनुसार हड़प्पा के नालिकाकार बरमा प्राचीन संसार के सबसे प्रारंभिक उदाहरण हैं। मैके के अनुसार ऐसे बरमे सेलखड़ी के मनकों के बनाने में प्रयोग किये जाते थे। चाहे वे किसी भी कार्य के लिए प्रयुक्त होते हों, पर इससे इतना तो सिद्ध होता ही है कि उन्हें धातु कर्म में उच्च कुशलता प्राप्त थी।

हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी-बसूला बहुत कम मिले हैं। चांहूदड़ो के झूकर काल से तथा मोहनजोदड़ो से कुल्हाड़ी-बसूला की उपलब्धि हुई है। मोहनजोदड़ो के 6′ गहराई से प्राप्त नमूनों को मैके कुषाण काल का बताते हैं। उन्हें मोहनजोदड़ो के उत्खनन करने पर 4′ की गहराई से पकी मिट्टी का हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी का माडल मिला। मुंडीगाक के प्रमाण व मोहन-जोदड़ो के पकी मिट्टी के नमूने इस बात के सूचक हैं कि सैंधवों को हत्थे के लिए छेदवाले उपकरणों का ज्ञान था। संभवतः ढालने की कठिनाइयों या रूढ़िवादिता के कारण ये प्रचलित न हो पाये हों। इतने सर्वव्यापक प्रमाणों के होते हुए इनका संबंध उत्तरकालीन आर्यों के आगमन के साथ नहीं जोड़ा जा सकता।

लोथल, मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से बहुत से जानवरों, कुत्ते, हंस, चिड़िया, हाथी (?) और सांड की लघु मूर्तियां मिली हैं। एक मोहनजोदड़ो से तथा एक लोथल से प्राप्त नृत्य करती हुई नग्न कन्या की लघु मूर्ति, शिल्प कला की उत्कृष्ट कृतियां हैं। पिग्गट के अनुसार इन लघु मूर्तियों में कुल्ली कन्या का रूपांकन है। इनकी ढलाई संभवतः लुप्त मोम तकनीक द्वारा हुई थी।

मोहनजोदड़ो के ऊपरी स्तरों से चार रीढ़दार तलवारें मिली हैं, जो कि सैंधव हथियारों में अपूर्व हैं। इन तलवारों की रीढ़ और फलक के आधार पर

या डांस पर छेद है। डांस मोटे हैं। ह्वीलर के मतानुसार ये आक्रमणकारियों की तलवारें हैं। लेकिन एक छोटे कमरे में दबी मिली तलवारों के भंडार और एक अन्य अधूरी बनी तलवार के प्रमाण इस मत के विरुद्ध पड़ते हैं। मोहन-जोदड़ो के नमूने अधिक भारी हैं, तथा रीढ़ के आकार के हैं, जबकि नवदाटोली के खंडित टुकड़ों के आकार भिन्न प्रकार के हैं।

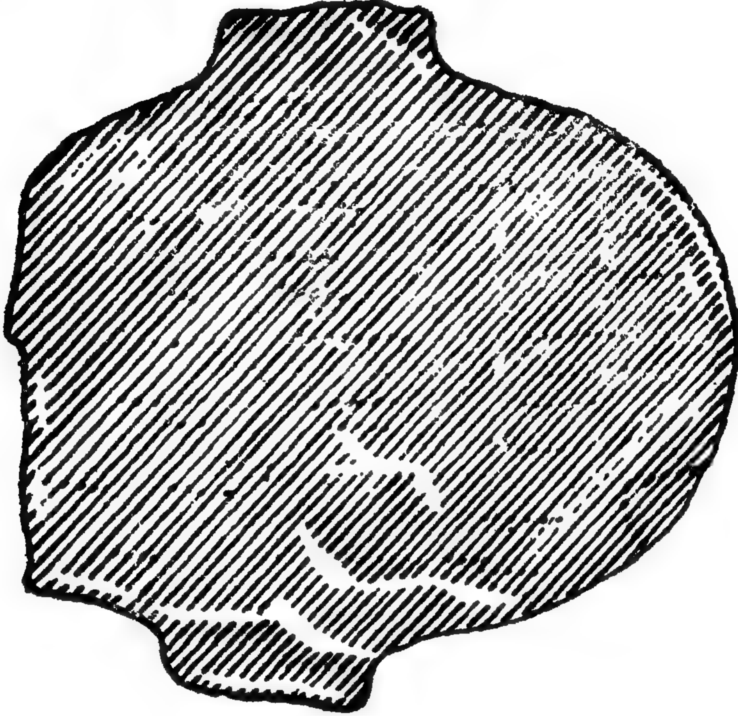
बहादराबाद ताम्र संचय संस्कृति की तलवार का मोहनजोदड़ो के प्रकार की तलवारों से साम्य है। बहादराबाद में छेदों के बजाय एक कांटा बना हुआ है। इसी प्रकार के नमूने सरथोली आदि अन्य स्थलों से भी मिले हैं।

अंत में लोथल से प्राप्त खंडित मानवाकृति (आरेख 13) का विवेचन आवश्यक है। अग्रवाल ने विभिन्न ताम्र संचय मानवाकृतियों का बड़ी संख्या में अध्ययन किया। उनके अनुसार दोआब की मानवाकृतियों के मोटे सिरे हथौड़ियाए हुए हैं जिसके कारण उनका सिर एक कील के सिरे की तरह लगता है, लेकिन लोथल के नमूनों के सिरे चपटे हैं। एक वास्तविक मानवाकृति में सिरे के एकदम पास हाथों का टूटना संभव नहीं था। इस प्रकार का टूटना तभी संभव था जबकि हाथ लंबे और सीधे होते, या हाथ इस प्रकार मुड़े होते कि वे एक प्रकार का फंदा या अर्ध चंद्र बनाते। अतः लोथल के नमूने को मानवाकृति का नाम देना उचित नहीं है। उसे ही मानवाकृति कहना चाहिए जिसके सिरे कील के सिर-सा हो। केवल लोथल के प्रमाण के आधार पर हड़प्पा और ताम्र संचय संस्कृतियों के बीच संबंध स्थापित करना तर्कसंगत नहीं होगा।

ग. अन्य ताम्राश्मीय संस्कृतियां

यद्यपि ताम्राश्मीय स्थलों की ताम्र उपकरणों की सूची दक्षिण के नवाश्मीय स्थलों से लंबी है, पर वह संचय उपकरणों की तुलना में महत्वहीन है। ताम्राश्मीय संस्कृति के हथियारों के कोई विशिष्ट प्रकार नहीं हैं। कुल्हाड़ियां चपटी हैं। जो अन्य संस्कृतियों में भी पायी जाती हैं। एक स्कंधयुक्त कुल्हाड़ी नवदाटोली से मिली है। निवासा की त्रिकोणाकार कुल्हाड़ी एक विशिष्ट प्रकार की है, जिसका संकरा सिरा टूटा हुआ है। यदि यह एक चपटी कुल्हाड़ी होती तो इसके धार से या बीच के भाग से टूटने की संभावना हो सकती थी, न कि इसके मोटे और संकरे सिरे से, अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि यह ऊपरी सिरे पर हत्थे से टूटा होगा या यह हल्लूर से प्राप्त प्रकार का रहा होगा।

ताम्राश्मीय स्थलों से प्राप्त तथाकथित मत्स्य कांटे कील या पिन भी हो सकते हैं। सैंधव उदाहरणों के विपरीत उनमें न तो छेद है न कांटा।



आरेख 13—जोखा से प्राप्त ताम्र-उपकरण

चंदोली की शृंगिकाकार मूठ वाली कटार की तुलना फतेहगढ़ (उ० प्र०) में मिली इसी प्रकार की तलवार से की गयी। अग्रवाल ने इनकी विषमताओं पर प्रकाश डालते हुए बताया कि चंदोली से प्राप्त नमूना कटार का है, जबकि ताम्र संचय से तलवारें मिली हैं। फतेहगढ़ तलवार के 5 की तुलना में चंदोली कटार की पूरी लंबाई का फलक से अनुपात केवल 1.6 है। फतेहपुर तलवार

भारी, स्पष्ट रीढ़ वाली और ढाली हुई शृंगिकाकार मूठ वाली है, जबकि चंदोली का नमूना हलका, हलकी रीढ़ और छेनी तथा हथौड़े द्वारा काटी हुई उसकी मूठ है। उनकी शृंगिका बहुत छोटी है जो संभवतः लकड़ी के हत्थे से डांस के फिसल जाने को रोकने के लिए बनायी गयी थी। मोहनजोदड़ो के नमूनों की तीखी रीढ़ के विपरीत नवदाटोली के नमूनों की हलकी सी रीढ़ थी।

अग्रवाल ने कायथा की प्रारंभिक स्तरों से 1.5 सेंटीमीटर मोटी, और सुंदर ढलाई की हुई ताम्र कुल्हाड़ियों का परीक्षण किया जो कि उनके विचार से संपूर्ण प्रागैतिहासिक काल में शिल्पकारिता की दृष्टि से अद्वितीय व शानदार हैं। इनके अतिरिक्त इस स्थल से छेनियां और बहुत से कड़े भी मिले हैं।

ताम्राश्मीय स्थलों से प्राप्त अन्य उपकरण हैं : मनके, कीलें, कुरेदनी, छड़ें, तार, छल्ले और पायल। संकालिया को जिला नागौर के कुर्दी नामक स्थल के एक ताम्र भंडार से एक ताम्र की चपटी कुल्हाड़ी, एक छड़ कुल्हाड़ी, पतले मुड़े हुए फलक और नालिका वाला कटोरा मिला है। कटोरे नवदाटोली के मृद्भांडों के समतुल्य हैं। अन्य ताम्र संचय उपकरणों के समान ही ये सब अस्तरीय उपलब्धियां हैं। इन शिल्प उपकरणों के मुड़े हुए फलकों की तुलना मोहनजोदड़ो के नमूनों से की जा सकती है, यद्यपि विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं हुआ है। नालीदार कटोरे परंपरागत रूप से आज तक यज्ञ के लिए प्रयोग किये जाते रहे हैं, अतः ऐसे संग्रहों की अति प्राचीनता स्थापित नहीं की जा सकती।

घ. ताम्र-संचय संस्कृति

ताम्र-संचय के उपकरणों के अस्तरित होने के कारण विद्वानों द्वारा कई अटकलें लगायी जाती रही हैं। शिल्प वैज्ञानिक विश्लेषणों पर आधारित हम अपनी कुछ अटकलों को भी यहां प्रस्तुत करेंगे। यहां ताम्र संचय संस्कृति का अन्य संस्कृतियों के साथ शिल्प समानताओं तथा विषमताओं का उल्लेख करेंगे। सर्वप्रथम हमने इस वर्ग के शिल्प उपकरणों का धातु-विज्ञान, तथा स्पेक्ट्रमी विश्लेषण किया है। लेकिन किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए अभी बड़ी मात्रा में नमूनों की आवश्यकता है। पर इतना तो मानना ही पड़ेगा कि ताम्र-संचय समस्या का निदान शिल्प के तकनीकी अध्ययनों द्वारा ही हो सकता है न कि केवल आकृतियों की तुलना द्वारा। हमने केवल उपकरण प्रकारों के अध्ययन के बजाय अधिक बल उनके प्रयोग और तत्कालीन परिस्थितियों पर दिया है।

समय-समय पर इस संस्कृति के अधिकांश उपकरण भंडारों में मिले हैं अतः इनके लिए ताम्र-संचय (Copper Hoards) पद प्रचलित हुआ। ताम्र-संचय स्थलों का क्षेत्र उत्तर पश्चिम में शालोजोन से लेकर पूर्व में भागरापीर तक तथा दक्षिण में कल्लूर (?) तक फैला हुआ है। विविध प्रकार के उपकरण मिले हैं। जिनमें तलवारें, हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी और कुल्हाड़ी-बसूला, टेकदार कुल्हाड़ी (Trunnion axe), चपटी और स्कंधयुक्त कुल्हाड़ियाँ, मत्स्य भाले (Harpoons), बाजूबंद, मानवाकृतियां, शृंगिकाकार तलवारें, भालाग्र और छल्ले मुख्य हैं। अब तक लगभग एक हजार से भी अधिक उपकरण मिले हैं। केवल गुंगेरिया से ही 829 पौंड वजन के 424 ताम्र उपकरण मिले हैं। अतः धातु उपकरणों की दृष्टि से हड़प्पा संस्कृति और ताम्र-संचय संस्कृतियाँ दोनों ही संपन्न हैं।

पिग्गट और हाइन गेल्डेर्न ताम्र संचयों का संबंध आर्यों के भारत में आगमन के साथ जोड़ते हैं। लेकिन बाद में पिग्गट ने मत बदला और वे इसका संबंध सैंधव शरणार्थियों से मानते हैं। हाइन गेल्डेर्न की तिथि केवल प्रकारों के अध्ययन पर आधारित है। समय व स्थान की दृष्टि से सार्डीनीया, ब्रिटिश आईल्स, यूनान और ट्रांसकाकेसिया, तथा मिस्र तक बिखरे हुए प्रकारों की उन्होंने तुलना की है और निम्न निष्कर्ष निकाले हैं।

(i) टेकवाली कुल्हाड़ी लगभग 1200-1000 ई० पूर्व ट्रांसकाकेसिया से ईरान होते हुई आयी; (ii) कुल्हाड़ी-बसूला का डेन्यूब क्षेत्र से ईरान होते हुए लगभग 1200-1000 ई० पूर्व आगमन हुआ; (iii) फोर्ट मनरो तलवार लगभग 1200-1000 ई० पूर्व पश्चिमी ईरान से आयी; और (iv) शृंगिकाकार तलवार पर वे कोबान प्रतिरूपों का (लगभग 1200-1000 ई० पूर्व) अधिक प्रभाव देखते हैं।

लाल ने हाइन गेल्डेर्न की आलोचना करते हुए कहा कि टेकवाली तलवार, फोर्ट मनरो तलवार, हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी-बसूला और कुल्हाड़ी दोआब से कभी नहीं मिले (यद्यपि कुरुक्षेत्र से प्राप्त एक हत्थे के लिए छेदवाले नमूने का उल्लेख हुआ है)। कोबान प्रतिरूपों के विपरीत शृंगिकाकार तलवार एकल टुकड़े में ढली हुई है। अतः उनकी तुलना कोबान से नहीं की जा सकती। इसी प्रकार मत्स्य भाले, छड़-कुल्हाड़ियाँ और मानवाकृतियाँ दोआब के पश्चिम से नहीं मिली। लाल ताम्र संचयों का संबंध आर्यों से पूर्व की आदि जातियों से जोड़ते हैं, फिर भी अपने पूर्व मत की पुष्टि के लिए हाइन गेल्डेर्न चांहूदड़ो से प्राप्त गदा-सिर के नमूनों की समानता हिस्सार काल III से, तथा अन्य

समानताओं को काकेशस की कोबान संस्कृति, ट्रांसकाकेशिया के गंदशा काराबाग संस्कृति, लूरिस्तान संस्कृति और स्यात्क A और B से करते हैं। उनके मतानुसार आर्यों ने पश्चिम से 1200 से 1000 के बीच आक्रमण कर सिंध सभ्यता का अंत किया। ताम्र संचय का सार्डीनिया और मिस्र जैसे दूरस्थ प्रदेशों से सादृश्य स्थापित करने की अपेक्षा, गुप्ता तथा लाल का मत है कि ये इसी भूमि में जन्मी संस्कृति हैं। यह मत अधिक तर्क संगत लगता है। बिहार के ताम्र अयस्क भंडार व दक्षिणी जंगलों से भरे पठार, ताम्र उत्पादन ही नहीं प्रत्युत धातुकर्म की स्वतंत्र उत्पत्ति के लिए भी बहुत अनुकूल थे। दोआब के ताम्र संचय के तीन विशिष्ट प्रकार मत्स्य-भाला, मानवाकृति और शृंगिकाकार तलवारें (आरेख 14) हैं। इनको ताम्र संचय के मुख्य विशेषक निर्धारित करने की कसौटी निम्न है। पहला, तीनों ही हथियार साथ पाये जाते हैं। अतः ताम्र संचय के अंतर्गत आने चाहिए। उदाहरणार्थ, बिसौली में मानवाकृति व मत्स्य भाले, बिठूर में मत्स्य भाले और शृंगिकाकार तलवार, तथा फतेहगढ़ से शृंगिकाकार तलवार और मानवाकृति साथ-साथ मिले हैं। द्वितीय, प्रकार-स्वरूप की दृष्टि से ये विशिष्ट प्रकार के हथियार हैं जो कि केवल दोआब से ही मिले हैं। ये दोआब में 78° से 84° पूर्वीय देशांतर और 24° उत्तरी अक्षांश रेखाओं के मध्य मिले हैं। यह एक घना मानसूनी जंगलों व नदियों का क्षेत्र था। जहाँ कि पर्याप्त जानवर और मछली मिल सकती थी व सीमित मात्रा में खेती भी हो सकती थी। मानवाकृति, तलवार तथा मत्स्य भाला वास्तव में शिकारी जीवन के ही सूचक हैं। प्राप्त लगभग एक सहस्र उपकरणों के बीच एक भी पात्र का न मिलना, उनके अर्धयायावर जीवन का द्योतक है।

दक्षिणी-पूर्वी प्रदेश पठारी क्षेत्र के 24° उत्तरी अक्षांस के दक्षिण से ये विशिष्ट प्रकार उपलब्ध नहीं हुए हैं। इस क्षेत्र से केवल चपटी और स्कंधयुक्त कुल्हाड़ियाँ, छड़—कुल्हाड़ियाँ और दोहरी धार वाली कुल्हाड़ियाँ मिली हैं। मुंगेरिया का महत्वपूर्ण स्थल इसी पठार पर पड़ता है। सिंहभूम ताम्र (मौसाबिंह, राखा, मसोबनी आदि खानें) के निकट होने के कारण प्रारंभिक कबीलों का ध्यान इस ओर गया होगा। ताम्र अयस्क सभी खूब रंगीन होते हैं। कैल्कोपाइराईट का रंग सुनहरा, मैलाकाईट हरा और अज्युराईट नीले रंग का है। उत्सुकता, अचानक खोज व प्रयोगों के फलस्वरूप यह संभव है कि इस क्षेत्र में धातु कर्म का विकास स्वतंत्र रूप से हुआ हो। जंगल वृक्षों से भरे थे जिनसे प्रगलन भट्टियों के लिए पर्याप्त ईंधन उपलब्ध था।



आरेख 14—ताम्र संचय संस्कृति के उपकरण प्रकार

इन कबीलों के वे लोग जो धातु शिल्प में सिद्धहस्त हो चुके थे आर्थिक दृष्टि से स्वतंत्र हो गये। फलतः शायद वे कबीले के बंधनों को तोड़कर यायावर लोहार बन गये। इन्हीं कबीलों के शिल्प कर्मियों ने शायद दोआब के अनुकूल विशिष्ट प्रकार के उपकरण बनाये। इन धातुकर्मियों को दोआब में फैलने तथा उस पारिस्थितिकी के अनुकूल नये प्रकार के हथियारों को बनाने में कितना समय लगा होगा, इसका केवल अनुमान ही लगाया जा सकता है। अभी तक यही कहा जा सकता है कि ताम्र संचय संस्कृति चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति (लगभग 800 ई० पूर्व) से पूर्ववर्ती थी। ताम्र संचय संस्कृति का प्रारंभ निर्धारण करने के लिए अभी हमें अधिक उत्खननों की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। सेपाई (उ० प्र०) से कुछ उपकरण उत्खनन से मिले हैं, परंतु वहाँ से कोई तिथि निर्धारण योग्य वस्तु नहीं मिली।

पठारी क्षेत्र के उपकरण चपटे और स्कंधयुक्त हैं जो कि जंगली पठार की आवश्यकतानुकूल थे। पटना संग्रहालय में रखे इस क्षेत्र के उपकरणों का अध्ययन करने के पश्चात् अग्रवाल इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वे संभवतः खुले साँचे के प्रयोग के फलस्वरूप ही एक ओर चपटे व दूसरी ओर थोड़े उन्नतोदर थे। परंतु कुछ गुंगेरिया प्रकार की चपटी कुल्हाड़ियाँ दोहरे साँचे के प्रयोग का आभास देती हैं। मत्स्य-भाले या बर्छी की जटिल ढलाई बंद साँचे में ही हो सकती थीं। यह प्रकार संभवतः यायावर लोहारों ने चट्टानों पर चित्रित लकड़ी के नमूनों की नकल करके बनाया था। राजपुर परसू के अलावा छड़-कुल्हाड़ी केवल पठारी क्षेत्र से ही मिली हैं।

प्रयोगात्मक व पारिस्थितिकी दृष्टि से अब हम महत्वपूर्ण उपकरणों के प्रकारों का वर्णन करेंगे।

अग्रवाल के अनुसार पटना संग्रहालय में हामी की छड़-कुल्हाड़ी आमतौर से एक ओर चपटी सी और ऊपर की ओर उन्नतोदर थीं। उनकी धार ऊपरी किनारों को छाँट कर बनायी गयी है। वे काफ़ी लंबी (2′ तक) और भारी हैं। हामी तथा गुंगेरिया से ऐसे अनेक नमूने मिले हैं। अग्रवाल के मतानुसार ये मोटे व लंबे होने के कारण सब्बल की तरह खुदाई के लिए प्रयुक्त होते होंगे। इन पर लगे हुए निशानों से स्पष्ट होता है कि इनका उपयोग किसी कठोर तल पर किया जाता था। गुंगेरिया से प्राप्त एक छड़-कुल्हाड़ी की धार पर आरी की तरह दाँते बने थे।

प्रस्तर तथा ताम्र छड़-कुल्हाड़ी में समानता होने के कारण, लाल का मत है कि ताम्र छड़-कुल्हाड़ियाँ उनके प्रस्तर प्रतिरूपों की नकल हैं। यहाँ यह

उल्लेखनीय है कि सीतामंजी, बान असुरिया, संथाल परगने, जसपुर, ठाकुरानी आदि से प्रस्तर उपकरण तो मिले हैं लेकिन ताम्र संचय उपकरण नहीं मिले। दानी के अनुसार पूर्वी प्रस्तर उपकरण, दक्षिणी पूर्वी एशिया के नमूनों के सदृश हैं। दक्षिणी-पूर्वी एशियाई प्रस्तर उपकरणों के विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात् वे इस निष्कर्ष में पहुँचे कि उनमें से बहुत से प्रकार जैसे स्कंधयुक्त प्रस्तर कुल्हाड़े और छड़-कुल्हाड़ी मलाया आदि से प्राप्त उपकरणों की बाद में नकल हैं। इससे यही स्पष्ट होता है कि धातु छड़-कुल्हाड़े भारत में प्राप्त प्रस्तर प्रतिरूपों से पूर्व ही प्रचलित थे।

लाल के मतानुसार कड़े भी ताम्र संचय संस्कृति की विशिष्टता है। लेकिन इन तथाकथित कड़ों को, भारी कंगनों से किस कसौटी पर अलग किया जाय यह निर्धारित करना कठिन प्रतीत होता है। कई स्थलों से प्राप्त सैंधव कड़े मोटे (लगभग 0·3″) तारों के सिरों को मिलाकर बनाये गये थे। जोर्वे से भी 12 मि०मि० मोटे तार के कड़े मिले हैं। देशपांडे के अनुसार उत्तरकालीन सैंधव स्थल बड़गाँव (जिला सहारनपुर) से एक छल्ला मिला है। पतले कंगन सर्वव्यापी हैं। अतः उन्हें ताम्र-संचय संस्कृति के अंतर्गत वर्गीकृत करने की कसौटी उनका एक मानक तौल होना ही हो सकती है, जो कि यायावर लोहारों के लिए धातु तौल की साथ-साथ ले जाने के लिए सुविधाजनक इकाई हो सकते थे। विभिन्न उपकरणों के बनाने के लिए कितने ऐसे कड़ों को भार के बराबर धातु लगेगा यह विनिमय का एक आसान तरीका हो सकता था। लेकिन जब तक उनको तोलकर यह संबंध स्थापित न किया जाय, यह एक अटकल ही रहेगी। इस दृष्टि से पोंडी से प्राप्त 47 कड़े या छल्ले, इस अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण साबित हो सकते हैं।

शृंगिकाकार तलवार दो शृंगिकाओं की तरह हत्थे के बने होने के कारण ही शृंगिकाकार तलवार कहलाती है। यह प्रकार जिला रायपुर के कल्लूर के दूरस्थ स्थल को छोड़, केवल दोआब से ही मिलता है। ताम्राश्मीय उपकरणों के उपशीर्षक के अंतर्गत हम शृंगिकाकार तलवार और शृंगिकाकार कटार की विशेषताओं और भिन्नताओं का उल्लेख पहले कर चुके हैं। शृंगिकाकार तलवार की असुविधाजनक द्विशाखीय मूठ के कारण, (प्रत्येक शाखा 4″ लंबी है।) उनके युद्ध के लिए प्रयोग किये जाने में संदेह है। अग्रवाल के मतानुसार ये बड़े शिकार को मारने के लिए प्रयुक्त की जाती थीं। उनका अनुमान है कि शृंगिकाकार मूठ को भारी कच्ची डालों में फंसाकर, फलक को सीधा खड़ा कर, एक गढ़े में रख दिया जाता था। गढ़े को पत्तियों से ढक कर शिकार को उस

ओर भमाया जाता था। फलक पर भारी जानवर के गिरने पर, वह बिना मुड़े उसके शरीर में बिंध जाता होगा।

पुरातात्विक साहित्य में मानवाकृति इस उपकरण को, सांकेतिक रूप में, उसके मानवाकार होने के कारण कहते हैं। इसका प्रयोग स्पष्ट न होने के कारण मानवाकृति सा लगने के कारण यह समझा जाता है कि यह किसी धार्मिक अनुष्ठान के लिए प्रयुक्त होती होगी। अनेकों संगृहीत मानवाकृतियों के अध्ययन के बाद उनकी तीन विशेषताएँ बतायी गयी हैं—(i) हथौड़ियाया हुआ और कुंद सिरा, (ii) बाहर की तरफ तीखी और मुड़ी बाहें; तथा (iii) सादे कुंद पाँव। एकसार ताम्र पत्तर को काट कर तथा पीट कर ये बनाये गये हैं। सिर की अपेक्षा बाहें पीट कर पतली बनायी गयीं, जबकि इसके सिर को पीट कर उसे अधिक मोटा बनाया गया। अग्रवाल ने इसका एक माडल बना कर इसे अस्त्र की तरह फेंकने पर पाया कि यह घूमता हुआ आता है। उनके अनुसार यह इस प्रकार का बना है कि यदि उड़ती हुई चिड़िया को गिराना हो तो यह तीन प्रकार से काम करता है—तीखी पैनी बाहें यदि चिड़िया के लगे तो उसे काटेंगी, मोटा सिरा लगने पर, वह उसे अचेत कर देगा, और यदि चिड़िया घूमती हुई मुड़ी बाहों में फँस जाती है तो वह इस अस्त्र के साथ ही नीचे आ गिरेगी। उनका कथन है कि इसका मोटा सिरा इसके गुरुत्व-केन्द्र को ऐसे संतुलित करता है कि यह अस्त्र संभवतः बूमरेंग की तरह कार्य करता था। इस संदर्भ में बूमरेंग के कार्य के विषय में फेलिक्स के विचार उद्धरित करना उचित होगा। उसके अनुसार केवल आकार के कारण बूमरेंग के लौटने के विषय में सोचना गलत होगा। मुख्य बात बाहों की बनावट है जो कि एक ओर दूसरे से अधिक उत्तलोदर हैं। ऐसी ही बनावट मानवाकृति की बाहों की भी है। चाहे किसी भी प्रकार यह अस्त्र प्रयोग किया जाता हो पर इसके अस्त्र के रूप में प्रयोग किये जाने के विषय में कोई तर्कपूर्ण शंका नहीं की जा सकती।

लोथल व दोआब के नमूनों की भिन्नताओं के विषय में पहले ही लिखा जा चुका है। मत्स्य भाले, रीढ़दार भालाग्र की तरह हैं जिसमें मुड़े कांटे लगे हों। इनकी मूठ पर प्रायः छेद होता है। ये दो प्रकार के हैं। पहला प्रकार है—मोटी चादर से काटकर हथौड़िया कर बनाये हुए, द्वितीय दोहरे सांचे में ढाले हुए। दूसरे की अपेक्षा प्रथम नमूने अधिक आदिम व भद्दे लगते हैं। स्तरीय प्रमाण ही यह निश्चित कर सकते हैं कि काटे हुए नमूने ढाले हुए प्रतिरूपों के पूर्वगामी हैं या नहीं। द्वितीय प्रकार के नमूने शिल्प कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं और इस बात के सूचक हैं कि ताम्र संग्रह लोहारों ने शुद्ध ताम्र की अन्य

ढलाई की तकनीक सीख ली थी। यह बड़े शिकार को मारने के लिए भालाग्र की तरह प्रयोग किया जा सकता था, जैसा कि कोकबर्न ने भी दर्शाया है और बड़ी मछलियों को मारने के लिए कांटेदार बर्छी के रूप में भी।

उपर्युक्त तीनों ही शिल्प उपकरण, मत्स्य भाला, शृंगिकाकार तलवार और मानवाकृति दोआब के विशिष्ट प्रकार हैं जो किसी भी अन्य संस्कृति में उपलब्ध नहीं है।

लाल के अनुसार स्कंधयुक्त कुल्हाड़ियाँ हड़प्पा संस्कृति से प्राप्त नहीं हुई। प्राप्त प्रमाणों के अनुसार अग्रवाल का मत है कि चपटे व स्कंधयुक्त प्रकारों में कोई गुणात्मक अंतर नहीं है। कुछ सैंधव उदाहरण वस्तुतः स्कंधयुक्त कहे जा सकते हैं। अग्रवाल के मतानुसार चपटी और स्कंधयुक्त कुल्हाड़ियाँ बहुत सादे प्रकार की होने के कारण सर्वव्यापी है। अतः ये किसी एक संस्कृति की विशिष्टता नहीं कही जा सकतीं। द्विमुखी कुल्हाड़ियाँ केवल उड़ीसा में भागरापीर से ही मिली हैं। ये एक अंडाकार चादर से गोलाकार टुकड़े काट कर बनायी जाती थीं। इस कारण इनका विशिष्ट आकार है। तीन नमूनों का नाप $18\frac{1}{2}'' \times 15\frac{3}{4}''$, $10'' \times 8\frac{1}{2}''$ और $10\frac{1}{2}'' \times 7''$ है। इनकी मोटाई $1/20''$ से $1/8''$ तक है। इनमें से दो कुल्हाड़ियों की दोनों धारें पैनी हैं, जबकि एक की केवल एक धार। इतने बड़े आकार के, इतने पतले हथियार को कुल्हाड़े की भाँति प्रयोग करने पर यह मुड़ जाता। अतः इन्हें कुल्हाड़ियाँ कहना गलत ही होगा। ये संभवतः भूमि अनुदान करने के पट्टों की तरह प्रयुक्त हुए होंगे।

कुछ विद्वानों के अनुसार लोथल की आयताकार कुल्हाड़ी (?), हड़प्पा की बिना धार की द्विमुखी कुल्हाड़ी (?), हल्लूर के त्रिकोण फलक वाली कुल्हाड़ी, ताम्र संचयों की द्विमुखी कुल्हाड़ियों के प्रकार से संबंधित है। केवल आकृति की दृष्टि से भी ये सब अपने में विशिष्ट प्रकार हैं, जिनकी एक दूसरे से तुलना नहीं की जा सकती। यदि इन विभिन्न हथियारों के विशिष्ट प्रयोग का ख्याल न करें और केवल प्रकारात्मक दृष्टि से ही देखें तो ये ताम्र संचय, सैंधव और नवाश्मीय संस्कृतियों को एकजुट कर देती हैं, जो अतार्किक है। वस्तुतः भागरापीर की द्विमुखी कुल्हाड़ियाँ ताम्र संचय के साथ नहीं मिलीं, इन्हें ताम्र-संचय प्रकारों में नहीं रखा जाना चाहिए।

कांटेदार तलवार (Hooked Sword) फतेहगढ़, नियोरी संथोली, और बहादराबाद से मिली हैं। यह प्रकार दोआब के उपर्युक्त तीन विशिष्ट उपकरणों के साथ पाया जाता है। मोहनजोदड़ो से बिना कांटे की रीढ़दार चार तलवारें मिली हैं, जिनकी जड़ अथवा फलक पर छेद हैं। नवदाटोली की खंडित रीढ़दार

फलक का वर्णन पहले कर चुके हैं। ताम्र संचय की तलवार या भाले की जड़ के पास कांटा है। यह कांटा तलवार के साथ ढाल कर नहीं बनाया गया बल्कि इसकी डांस को छेनी से काटकर बनाया गया था। नवदाटोली के खंडित फलक की चपटी रीढ़ के विपरीत इसकी रीढ़ अधिक ऊंची है। यह सामान्य प्रकार का हथियार है जो घोंपने के काम आता होगा, अतः इसका अन्य संस्कृतियों से संबंध स्थापित करने के हेतु इसका कोई तुलनात्मक महत्व नहीं है।

परशु का अब तक केवल एक ही उदाहरण सारथोली के मत्स्य भालों के साथ मिला है। बहादराबाद से प्राप्त चपटे, पतले और लंबे फलक भी उल्लेखनीय हैं। अग्रवाल के अनुसार उनकी केवल एक ओर की धार और सिरा ही पैने हैं। शायद वे दराट के रूप में प्रयोग होते थे।

ङ. सारांश

उपर्युक्त विवेचन में हमने किन्हीं इक्के-दुक्के प्रकारों को महत्व न देकर केवल विशिष्ट प्रकारों को ही ताम्र संचय संस्कृति का विशेषक माना है। हमने उनके प्रयोग पर अधिक बल दिया है। दोआब क्षेत्र के विशिष्ट हथियार शृंगिकाकार तलवार, मत्स्य भाले और मानवाकृति, यायावर शिकारी जीवन के अनुकूल हैं। समस्त ताम्र-संचयों से अभी तक कोई भी पात्र नहीं मिला। दक्षिण क्षेत्र की विशिष्टता छड़-कुल्हाड़ी हैं। विविध प्रकार की कुल्हाड़ियां सभी स्थलों से मिली हैं। ताम्र-संचय स्थलों से पर्याप्त मात्रा में धातु मिला है जो कि सैंधव स्थलों की तुलना कर सकता है। मत्स्य भाला शुद्ध ताम्र की बन्द ढलाई का उत्कृष्ट नमूना है।

ताम्र संचय व अन्य संस्कृतियों के मध्य धातु उपकरणों के बाह्य रूप के आधार पर संबंध स्थापित करने के प्रयास तर्कपूर्ण नहीं लगते। ताम्र संचय हमारे देश के पुरैतिहासिक काल की एक अपूर्व व संभवतः स्वतंत्र संस्कृति है। चित्रित धूसर मृद्भांड संस्कृति के लोगों द्वारा लौह उपकरणों के उपयोग से दोआब के जंगलों के साफ होने से पूर्व, संभवतः यह दोआब के जटिल व घने जंगलों की आदि जातियों की संस्कृति थी। छोटा नागपुर का पठार ताम्र अयस्कों से भरपूर व जंगलों से आच्छादित था। अतः वहाँ स्वतंत्र धातु शिल्प का उद्भव दो सहस्र ई० पूर्व भी संभव था। घने जंगलों की पारिस्थितिकीय रुकावटों के कारण ही दोआब की यह संस्कृति अन्य पश्चिमी संस्कृतियों के संपर्क में शायद नहीं आ पायी।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि नवाश्मीय काल में पूर्वी भारतवर्ष का दक्षिणी पूर्वी एशिया से संपर्क था। स्याम में नवीन अनुसंधानों से ज्ञात हुआ कि नोकनोकथा स्थल में ताम्र तकनीक का प्रारंभ, कार्बन तिथि के अनुसार, लगभग 2300 ई० पूर्व हुआ था। उन्नीसवें स्तर से प्राप्त ताम्र कुल्हाड़ियों और टीलों की कार्बन तिथि TF-651, 2325±200 ई० पू० व Gak-956, 2290±90 ई० पूर्व है। इससे प्रतीत होता है कि संभवतः ताम्र-संचय संस्कृति का प्रेरणा केन्द्र दक्षिण-पूर्वी एशिया रहा हो। लेकिन वर्तमान अपर्याप्त अनुसंधानों के आधार पर यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि ताम्र-संचय संस्कृति का प्रेरणा स्रोत दक्षिण-पूर्वी एशिया था या उसका उद्भव स्वतंत्र रूप से हुआ।

यद्यपि ताम्र संचयों के साथ कोई भी मृद्भांड नहीं मिले, तो भी गेरुए भांडों का संबंध इस संस्कृति से जोड़ा जाता है। जबकि गेरुए भांडों की परिभाषा के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। शर्मा ने गेरुए भांडों का संबंध परवर्ती सैंधव व ताम्र संचय से भी जोड़ा है। देशपांडे के मतानुसार हड़प्पा के नमूने, बड़गांव के गेरुए भांडों के सदृश है। देशपांडे ने बड़गांव में कब्रिस्तान H का भी प्रभाव पाया है। गुप्ता के मतानुसार गेरुए भांडों का स्वतंत्र अस्तित्व है जिसका सैंधव संस्कृति से संबंध नहीं है। स्थानीय कबीलों द्वारा ताम्र संचय संस्कृति का पृथक् व स्वतंत्र उद्भव स्थापित करने का हमने ऊपर प्रयत्न किया। लाल और गुप्ता के अनुसार ये कबीले मुंडा लोगों के हो सकते हैं। ताम्र संचय मुंडा जाति के हो सकते हैं। जो कि बिहार से गढ़वाल तक फैले और फिर वापस हो गये। पहाड़ी बोली-समूहों में मुंडा शब्दों की उपस्थिति और हिमालय क्षेत्र की आबादी में डोम और कोल्टा लोगों में प्रोटो ओस्ट्रोलाइड जातियों के लक्षण उक्त विचार को पुष्ट करते हैं। ग्रियर्सन और रिसले ने भी इस सिद्धांत को माना है। अग्रवाल के अनुसार कुमाऊँ में आज भी डोम ही लोहार का काम करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि पूर्वी ओस्ट्रेलेनाजियन कबीले, जो मोनख्मेरों के पूर्वज थे व मुंडा भाषाओं से भी संबंधित थे, स्वतंत्र रूप से ताम्र-युग में पहुँच गये। यह समझा जाता है कि नवाश्मीय काल में उत्तर पूर्वी भारत, दक्षिणी पूर्वीय एशिया का अभिन्न अंग था। जैसा कि पहले ही बताया गया है कि स्याम में धातु-युग का प्रारंभ पहले होने के कारण, धातु शिल्प का प्रसार ताम्र-संचय संस्कृति में दक्षिण पूर्वीय एशिया होने की संभावना बढ़ जाती है।

थ. निष्कर्ष

प्राग्हड़प्पा संस्कृतियां धातु की दृष्टि से बहुत हीन हैं। ताम्र के प्रयोग के प्रमाण इतने थोड़े मिले हैं कि यह कहा जा सकता है कि उन्हें या तो स्थानीय

अयस्क खानों का पता न था या प्राग्हड़प्पा संस्कृतियों का समाज पूरे समय धातु कर्म करने वाले लोहारों का निर्वाह नहीं कर सकता था। धातु-उपकरणों के आधार पर विभिन्न सह-संबंध स्थापित करने के लिए पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध नहीं हैं।

इसके विपरीत, सैंधव स्थलों में हम एकाएक धातु कर्म का व्यापन देखते हैं। विविध प्रकार के धातु पात्रों से ज्ञात होता है कि उन्हें धसाने, उभाड़ने, जोड़ने आदि की तकनीकों का ज्ञान था। ताम्र-संचय व ताम्राश्मीय स्थलों से कोई भी धातु पात्र नहीं मिले हैं। सैंधव व ताम्राश्मीय शिल्प उपकरणों से पता चलता है कि उनमें तापानुशीतन व धातु की ठंडी ठुकाई की तकनीक क्यों प्रयुक्त होती थीं। तापानुशीलन संभवतः ताम्र संचय संस्कृति में प्रचलित न था। सैंधव संस्कृति में लुप्त—मोम की ढलाई की तकनीक भी प्रयुक्त हुई है, वैसे खुले खांचों का प्रयोग सामान्य था। ताम्र-संचय के मत्स्य कांटे और गुंगेरिया की कुल्हाड़ियों से बंद सांचों में ढलाई का आभास होता है। शुद्ध ताम्र की ढलाई के लिए बंद सांचों का प्रयोग एक कठिन तकनीक है। संभवतः टीन की कमी तथा धातु मिश्रण की कठिनाइयों के कारण ताम्र-संचय शुद्ध ताम्र के हैं। ताम्र संचय तथा ताम्राश्मीय संस्कृतियों की अपेक्षा धातु की गढ़ाई की तकनीकें हड़प्पा संस्कृति में कहीं अधिक उन्नत हैं। हड़प्पा तथा ताम्राश्मीय दोनों ही संस्कृतियों में धातु मिश्रण का प्रयोग किया गया, जब कि ताम्र संचय से अभी तक कांस्य के निश्चित प्रमाण नहीं मिले हैं।

धातु निर्मित उपकरणों के विशिष्ट सैंधव प्रकार हैं, उस्तरे, बाणाग्र, मत्स्य कांटे, मुड़े हुए फलक। संभवतः सर्वप्रथम आरी व नालीवाला बरमा उन्होंने ही तैयार किया। ताम्र-संचय के विशिष्ट प्रकार हैं, मानवाकृति, शृंगिकाकार तलवार और मत्स्य भाले। ताम्राश्मीय संस्कृति के प्रकार सामान्य हैं और वे अन्य संस्कृतियों में भी मिलते हैं। इनकी अपनी कोई विशिष्टता नहीं है। सैंधव, ताम्राश्मीय व ताम्र संचय संस्कृतियों को उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्वतंत्र समूहों में ही रखा जा सकता है। चंदौली की शृंगिकाकार कटार व लोथल की मानवाकृति के तथाकथित सादृश्य की तकनीकी दृष्टि से कोई समानता नहीं है।

ताम्राश्मीय संस्कृतियों में बनास संस्कृति की विशिष्टता इसमें लघु-अश्मों का अभाव और धातु-प्रगलन का ज्ञान है। मालवा संस्कृति की विशेषता लघु-अश्मों का उपयोग और जोर्वे की प्रस्तर कुल्हाड़ियां हैं।

धातु की बहुलता की दृष्टि से सैंधव सभ्यता के स्थल सबसे आगे हैं, तत्पश्चात् ताम्र-संचय और अंत में ताम्राश्मीय स्थल आते हैं। यद्यपि ताम्राश्मीय संस्कृति—उपर्युक्त दोनों संस्कृतियों से धातु की दृष्टि से बहुत पिछड़ी है, पर दक्षिण की नवाश्मीय संस्कृतियों से कहीं आगे है। स्थान काल, प्रकारात्मक वैभिन्न्य व धातु कर्म की दृष्टि से इन संस्कृतियों में कोई विशेष समानता नहीं है। संभवतः सैंधवों के पश्चात् ताम्राश्मीय और फिर ताम्र संचय संस्कृतियां विकसित हुईं। इन संस्कृतियों का भौगोलिक क्षेत्र भी अलग-अलग है और परिस्थितियां भी।

सैंधवों की धातु संपन्नता का मुख्य कारण अतिरिक्त कृषि उत्पादन तथा स्थानीय खानों की खोज थी। किसी भी समाज में अतिरिक्त उत्पादन के बिना धातु कर्मियों का जन्म संभव नहीं। सैंधव स्थलों से प्राप्त बड़ी संख्या में उपलब्ध संकरी कुल्हाड़ियां और छेनियां कुदाल की भांति प्रयोग की जा सकती थीं। चारों ओर से घिसे और चिकने बहुत से चपटे फलक संभवतः लकड़ी पर लगाकर कुदाल की तरह प्रयोग किये जाते थे। अतिरिक्त कृषि उत्पादन से समृद्ध अर्थव्यवस्था, धातु कर्म का ज्ञान, धातु स्रोतों की बहुलता तथा अनुकूल पारिस्थितिकी के फलस्वरूप ही सिंध की घाटी में सैंधव नागरीकरण का इतनी तेजी से विकास हुआ।

ताम्र-संचय लोगों को भी धातु कर्म का ज्ञान था तथा धातु की बहुलता भी थी। इनकी अन्य संस्कृतियों से पृथकता तथा विशिष्टता इनके धातु-कर्म के स्वतंत्र विकास की सूचक है। यद्यपि जंगलों से भरा पठार व धातु की विद्यमानता धातु-कर्म के अनुकूल थी, पर यहां की पारिस्थितिकी नागरीकरण में सहायक न हो सकी। उनके हथियार, शृंगिकाकार तलवार, मानवाकृति व मत्स्य भाले मानसूनी घने जंगलों व नदियों में शिकार व यायावर जीवन के अनुकूल ही थे। उनके धातु कर्म से यह बात ज्ञात होती है कि उनके समाज में यह कार्य घुमक्कड़ लोहारों द्वारा ही, जो कि अपने कबीले के बंधनों को तोड़ कर मुक्त हो गये थे, संपन्न किया जाता था। धातु की बहुलता के होते हुए भी एक भी पात्र का न मिलना उनके यायावर जीवन का ही द्योतक है। उनके स्थलों से आबादी के टीलों का न मिलना भी इस मत की पुष्टि करता है। दोआब का उपनिवेशीकरण कालान्तर लौह तकनीक के ज्ञान तथा प्रचुर मात्रा में लोहे की प्राप्ति द्वारा ही संभव हुआ। ताम्र की अपेक्षा लोहे की महत्ता उसकी कठोरता न होकर उसकी प्रचुरता में है। ताम्राश्मीय संस्कृतियों का धातु कर्मी विकास, संभवतः पारिस्थितिकी के प्रभाव और अयस्कों की

न्यूनता के कारण न हो सका, सँकरी धारयुक्त धातु-पट्टियों से अतिरिक्त उत्पादन इतना नहीं हो सकता था कि वे धातु-कर्मियों व अन्य कारीगरों का निर्वाह कर सकते, न नागरीकरण के लिए यह पर्याप्त ही था।

अध्याय 16 : संदर्भिका

इस अध्याय विषयक मुख्य ग्रन्थ :

D. P. Agrawal	: Copper Bronze Age in India, 1971 (Delhi .
J. R. Caldwell and S. M. Shahamirzadi.	: Tal-i-Iblis, 1966 (Spring field).
J. M. Casal	: Fouilles de Mundigak, 1961 (Paris).
V. G. Childe	: New Light on the Most Ancient East, 1957 (New York).
G. Clark and S. Piggott.	: Prehistoric Societies, 1965 (London).
H. H. Coghlan	: History of Technology, Vol. I, 1954 (Oxford).
E. W. Ehrich	: Chronologies in World Archaeology, 1965 (Chicago).
G. Daniel	: The Idea of Prehistory, 1964 (Harmondsworth).
V. N. Misra and M. S. Mate.	: Indian Prehistory : 1961, 1965 (Poona).
E. J. H. Mackay	: Further Excavation at Mohenjodaro, Vol. 1 & 2, 1937-38 (Delhi).
J. Marshall	: Mohenjodaro and the Indus Civilisation, 1931 (Kandu).
Sanahullah Khan	: In Mohenjodaro and the Indus Civilisation, Led by J. Marshall 1931 (London).
M. L. Sethi	: Mineral Resources of Rajasthan, 1956 (Jaipur).
L. Aitchison	: A History of Metals, Vol. 1, 1960 (London).
मुख्य लेख	:
H. C. Bharadwaj	: Bharati, Bull. of the Col. of India, Vol. 9, at. 2, p. 57, 1965-66.

Lamberg-Karlovsky	: American Anthropologist, Vol. 69, p. 145, 1967.
D. P. Agrawal and Statira Guzder.	: Paper presented at 28th I. O. C. Canberra, January 1971.
E. Khan	: Pakistan Archaeology, 1964-65.
Reports in	: British Assoc. for the Advance of Sci. Report from 1928 to 1938.
J. A. Dunn	: Bull. of the Gol. Survey of Irdia, No. 23, 1965 (Delhi).
G. G. Mujumdar and S. N. Rajaguru	: Bull. of the Deccan Coll. Res. Inst, Vol. 23, p-31, 1962-63.
S. P. Gupta	: The Jour. of the Bihar Res. Soc., Vol. 4, p-147, 1963.
R. Heine-Geldern	: Jour. of Ind. Soc. of Orient Art, No 4, p-37, 1936.
B, B. Lal	: Ancient India, N. 7, p-20, 1951.
B. B. Lal	: Antiquity, Vol. 46, p-282-287, 1972.
R. Heine-Geldern	: Man, Vol. 156, p-151, 1956.
V. A. Smith	: Indian Antiquary, Vol. 34, p. 249, 1905.
M. N. Deshpande	: Indian Prehistory : 1964, (eds.) V. N. Misra and M. S. Mate, 1965 (Poona).
S. P. Gupta	: —do—



अध्याय 7

उपसंहार

पिछले अध्यायों में हमने विभिन्न ताम्राश्मीय व लौह कालिक संस्कृतियों की पुरातात्विक सामग्री, पारिस्थितिकी, तकनीकी स्तर और कालानुक्रम का अध्ययन किया। अब तक केवल आधार सामग्री को प्रस्तुत किया गया था, अब हम इन बहुमुखी अध्ययनों के आधार पर एकत्र हुई सामग्री का पुरैतिहासिक पुरातत्व के पुनः निर्माण के लिए प्रयोग करेंगे।

I प्राग्हड़प्पा और हड़प्पा काल

हमने देखा कि भारत—पाक उपमहाद्वीप के उत्तर-पश्चिम में, पाक-ईरान सीमा के क्षेत्र में, किस प्रकार वहाँ के शुष्क पठारों के बीच छोटे-छोटे मरुद्यानों ने सांस्कृतिक वैभिन्न्य को जन्म दिया। इस प्रकार का वातावरण अलगाव को बढ़ावा देता है। शायद यही कारण है कि हम इस क्षेत्र में इतने प्रकार की संस्कृतियाँ पाते हैं। अफगानिस्तान में हमने मुंडीगाक का सांस्कृतिक अनुक्रम देखा। इसमें काल I हस्तनिर्मित मृद्भांडों से शुरू होता है और काल IV में पहुँच कर नागरीकरण का विकास दिखलाता है। हमने यह भी देखा कि बहुरंगी अलंकरण, उदाहरणार्थ नाल भांड, बलूचिस्तान के उच्च प्रदेश में सीमित था। दूसरी ओर द्विरंगी अलंकरण, उदाहरणार्थ आम्री, गिरिपाद और मैदानी क्षेत्रों में सीमित था। इन दो शाखाओं का विकास दो स्वतंत्र परंपराओं के रूप में हुआ। हड़प्पा संस्कृति की जन्मदात्री, एक प्रकार से यह द्विरंगी भांडों की प्रथा ही रही। बलूचिस्तान में हमने नाल, किलीगुल मोहम्मद दंब सदात, बामपुर, पिराक, राना घुंडई आदि का सांस्कृतिक विकास देखा। सिंध में आम्री और कोटदीजी और राजस्थान में कालीबंगन I की प्राग्हड़प्पा संस्कृतियों का अध्ययन भी किया। डेल्स की चरण C संस्कृतियों (अंजीरा II मुंडीगाक I आदि) का पुरातात्विक काल-विस्तार 3300 से 3000 ई० पूर्व था, जबकि इन संस्कृतियों का कार्बन आधारित काल-विस्तार 3200 से 2800 ई० पूर्व था। इसी प्रकार

आरेख 15—भारत-पाक उपमहाद्वीप के प्रस्तर, पुरैतिहासिक एवम् लौह कालिक संस्कृतियों के कार्बन तिथियों पर आधारित कालानुक्रम

चरण D संस्कृति (माझी I व II मुंडीगाक II) आदि का पुरातात्त्विक काल-विस्तार 3000-2700 ई० पूर्व, कार्बन आधारित कालानुक्रम 2800 से 2600 ई० पूर्व है। चरण E संस्कृतियाँ, जो कि सही मानों में प्राग्हड़प्पा कालिक हैं, का पुरातात्त्विक काल विस्तार 2700 से 2400 ई० पूर्व और कार्बन आधारित 2600 से 2400 ई० पूर्व है।

हमने यह भी देखा कि संभवतः धातु कर्म की उत्पत्ति ताल-ए-इबलिस में हुई। मुंडीगाक में हमने धातु कर्म तकनीकों का त्वरित विस्तार देखा। परंतु हड़प्पा संस्कृति में धातु कर्म एकाएक अपने पूर्ण विकसित रूप में प्रकट होता है। प्राग्हड़प्पा काल में ताम्र बहुत न्यून है। मुंडीगाक I में से कम टीन वाला कांस्य मिला है और नाल से सीसे का मिश्रण मिलता है।

उत्तर-पश्चिम में चरण E में समस्त क्षेत्र की सांस्कृतिक एकरसता संस्कृतियों के नागरीकरण की ओर अग्रसर होने की सूचक हैं। उदाहरणार्थ मुंडीगाक IV में एक महल और एक बड़ा मंदिर, कोटदीजी और कालीबंगन I में किलेबंदियाँ आदि नागरीकरण की प्रक्रिया के द्योतक हैं।

हड़प्पा संस्कृति उत्तर-पश्चिम में एकाएक पूर्ण विकसित रूप में उदित होती है। यह उल्लेखनीय है कि हड़प्पा संस्कृति एक अर्द्ध-शुष्क पारिस्थितिकीय क्षेत्र में, जो कि सप्त सिंधु से सिंचित होता था, फैली थी। इस सांस्कृतिक और पारिस्थितिकीय समरसता में एक प्रकार का साम्य है। राइक्स आदि ने इस क्षेत्र की बढ़ती हुई शुष्कता के सिद्धांत का खंडन किया है। दूसरी ओर सिंह की राजस्थान की झीलों पर पराग-आधारित अनुसंधानों ने दर्शाया है कि लगभग 3000 ई० पूर्व वहाँ एक आर्द्र जलवायु थी। लेकिन 1700 ई० पू० में शुष्कता का दौर प्रारंभ हो जाता है। इस संस्कृति का केन्द्रीय कालानुक्रम लगभग 2350 ई० पू० से 2000 ई० पू० तथा परिधीय क्षेत्रों का काल-विस्तार 2000 ई० पू० से 1700 ई० पू० था। इस प्रकार हम देखते हैं कि तीसरी सहस्राब्दी से 1700 ई० पू० तक संस्कृतियाँ यहाँ विकास पर थीं। 1700 ई०पू० के लगभग ये संस्कृतियाँ लुप्त होने लगीं। पुरातात्त्विक और जलवायु संबंधी प्रमाणों में ऐसा तादात्म्य सिंह के निष्कर्षों का प्रतिपादन करता है।

तकनीकी क्षेत्र में हमने देखा कि लगभग 70% सैंधव उपकरण शुद्ध ताम्र के थे। धातु मिश्रण ऊपरी स्तरों में अधिक व्यापक था। स्पैक्ट्रमी विश्लेषण श्रेणी के अयस्कों और सैंधव उपकरणों के बीच बहुत साम्य दर्शाता है। सैंधव लोग तरह-तरह के पात्र व उपकरण बनाते थे जिनके लिए विभिन्न प्रकार की तकनीकों का प्रयोग होता था। जैसे—हथौड़ियाना, तापानुशीतन, रिवेटिंग, बंद

साँचों और लुप्त मोम प्रक्रिया का ढालने में उपयोग। हड़प्पा संस्कृति धातु में पुरैतिहासिक काल की सबसे संपन्न संस्कृति थी :

हमने कालानुक्रमों का विवेचन पुरातात्विक और कार्बन तिथिकरण के आधार पर अलग-अलग किया था जिसका सारांश निम्नलिखित है।

क. चरण C संस्कृतियां

(मंजीरा II, मुंडीगाक I, रानाघुंडई I आदि)
पुरातात्विक —लगभग 3300—3000 ई॰ पू॰
कार्बन तिथियां—लगभग 3200—2800 ई॰ पू॰

ख. चरण D संस्कृतियां

(आम्री I और II, मुंडीगाक II, मंजीरा III आदि)
पुरातात्विक —लगभग 3000—2700 ई॰ पू॰
कार्बन तिथियां—लगभग 2800 – 2600 ई॰ पू॰

ग. चरण E संस्कृतियां

(हड़प्पा से पहले की संस्कृतियां)
पुरातात्विक —लगभग 2700—2400 ई॰ पू॰
कार्बन तिथियां—लगभग 2600—2400 ई॰ पू॰

घ. हड़प्पा संस्कृति

पुरातात्विक —लगभग 2350—2000 ई॰ पू॰
कार्बन तिथियां—
केन्द्रीय क्षेत्र —लगभग 2300 (या और पहले) से 2000 ई॰ पू॰
परिधीय क्षेत्र —लगभग 2000—1700 ई॰ पू॰

भारत-पाक महाद्वीप के उत्तर-पश्चिम में हमने देखा कि अनेक संस्कृतियां छोटे-छोटे क्षेत्रों में फैली हुई थीं। ताम्र का सीमित प्रयोग उन्हें ज्ञात था परंतु उस पारिस्थितिकी में कोई अतिरिक्त उत्पादन संभव नहीं था। इस कारण यह ग्राम संस्कृतियां, नागरीकरण तक नहीं पहुँच सकीं। जो लोग सिंधु घाटी में उतर आये वे ही सभ्यता की ओर अग्रसर हो पाये। कूबड़ वाले सांड के डिआइनों का प्राचुर्य यातायात और कृषि में चौपायों की शक्ति के उपयोग का ज्ञान दर्शाता है। समाज में अनेक प्रकार के परिवर्तन चरण E संस्कृतियों को नागरीकरण की दहलीज पर खड़ा कर रहे थे। धातु कर्म का विकास, कृषि

तकनीकों में सुधार, पशुओं को पालतू बना कर उनकी शक्ति का प्रयोग और व्यापार आदि सब प्रक्रियाएं इस सामाजिक परिवर्तन में योगदान दे रही थीं।

संसार की सभी आदि सभ्यताएं चाहे वह नील नदी की हो या चाहे दजला फरात की या सिंधु की, सभी अर्द्ध-शुष्क जलवायु में और उर्वर जलोढ गाद पर पनपीं। सिंधु उपत्यका में भी अतिरिक्त उत्पादन ने बाजारों को जन्म दिया होगा जिन्हें नियंत्रण में रखने के लिए और शांति बनाये रखने के लिए नागरिक व्यवस्था का जन्म हुआ होगा। धातु कर्मी और विविध प्रकार के शिल्पियों को समाज अतिरिक्त उत्पादन के आधार पर पाल सकता था। बार-बार की बाढ़ों ने ऊँचे विशाल मंचों पर स्थित पूर्व नियोजित नगरों के निर्माण के लिए किसी केन्द्रीय सत्ता को जन्म दिया होगा, जिसके नियंत्रण के कारण समाज के हर क्षेत्र में एकरसता और मानकीकरण व्याप्त हुआ होगा। इस केन्द्रीय शक्ति को सुदृढ़ बनाने में दो और महत्वपूर्ण एकाधिकारों ने योग दिया होगा। यह एकाधिकार थे ताम्र अयस्कों और रोहरी और सुक्कुर के चर्ट भंडारों पर। इस संस्कृति के आयुध थोड़े से और कमजोर बनावट के लगते हैं। यह तथ्य इस बात का द्योतक है कि युद्ध की आवश्यकता इस काल में बहुत कम थी।

विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक शक्तियों जैसे नदी का प्रवाह, वायु, पशु शक्ति आदि का नाव और पहियों आदि के द्वारा प्रयोग से उत्पादन और यातायात में क्रांतिकारी परिवर्तन संभव हुए। मकरान और गुजरात के बंदरगाहों से सामुद्रिक व्यापार होता था। शायद मेलुहा का तांबा राजस्थान से पश्चिम एशिया को निर्यात होता था।

हड़प्पा संस्कृति एक बड़े भू-भाग में फैली हुई थी। इसका फैलाव एक विशेष प्रकार के पारिस्थितिकीय क्षेत्र में हुआ था, परंतु यह संस्कृति पूरे भू-भाग में किसी एक ही समय पर साम्राज्य की तरह नहीं फैली थी। इसके केन्द्रीय क्षेत्र, परिधीय क्षेत्रों के मुकाबले कुछ पूर्ववर्ती थे।

सैंधव सभ्यता के अंत के विषय में कुछ निश्चित रूप से कहना अभी संभव नहीं है। राइक्स के विचार, हड़प्पा संस्कृति के अंत की व्याख्या करने की कोशिश में उसके प्रादुर्भाव को ही असंभव बना देते हैं। एक संस्कृति जो प्रारंभ से ही निरंतर बढ़ती हुई सर्वव्यापी कीचड़ की झील से जूझती रही हो, उसका नागरीकरण होना असंभव ही था।

II ताम्राश्मीय संस्कृतियां

मध्य भारत और दक्षिण की अधिकतर संस्कृतियां संकरे जलोढ मैदानों में पनपी थीं, इस कारण कृषि उत्पादन पर एक सीमा बँध गयी थी। काली

कपासी मिट्टी को बिना भारी लोहे के हलों के जोतना दुष्कर था। हाल में धवलीकर आदि ने इन स्थापनाओं को गलत बताया है। उनका भ्रम है कि आज की काली-कपासी मिट्टी जो ताम्राश्मीय स्थलों के पास पायी जाती है वह प्राचीन काल में भी ऐसी ही थी। हेग्डे ने दिखलाया है कि काली कपासी मिट्टी कुछ सौ सालों के अंदर भी बन सकती है। बहुत से ताम्राश्मीय काल के अलोढ मैदान कालांतर में काली कपासी मिट्टी में परिवर्तित हो गये।

अध्याय चार में कालानुक्रमिक विवेचन के आधार पर हम निम्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :—

उत्तर-पश्चिमी संस्कृतियां

(क) शाही टंप—लगभग 2000-1900 ई० पू० (पुरातात्त्विक)
(ख) झूकर —लगभग 1900 ई० पू० (पुरातात्त्विक)
(ग) झंगर —लगभग 900 ई० पू० (पुरातात्त्विक)
(घ) कब्रिस्तान-लगभग 1750 से 1400 ई० पू० (पुरातात्त्विक)

मध्य व उत्तर भारत व दक्कन की संस्कृतियां

(क) कायथा	लगभग	2000-1800	ई० पू० (कार्बन तिथियां)
(ख) बनास	लगभग	2000-1400	ई० पू० (कार्बन तिथियां)
(ग) मालवा	लगभग	1700-1400	ई० पू० (कार्बन तिथियां)
(घ) जोर्वे	लगभग	1400-1100	ई० पू० (कार्बन तिथियां)
(ङ) गेरुए भांड	लगभग	1800-1400	ई० पू० (ताप संदीप्तिक तिथि)

ताम्राश्मीय संस्कृतियों में तौबा और लघ्वाश्म दोनों ही का उपयोग होता था। केवल बनास संस्कृति ही ऐसी थी जिसमें लघ्वश्मों का प्रयोग नहीं के बराबर था। इन संस्कृतियों में धातु मिश्रण ज्ञात था और कांस्य बनाने के लिए 1-5% तक टीन का उपयोग होता था। सीसा 1-2% प्रतिशत तक प्रयोग होता था, लेकिन संखिया मिश्रण के कोई उदाहरण अभी तक नहीं पाये गये हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि अधिकतर खेत्री के आक्साइड ताम्र-अयस्क भंडारों का उपयोग हुआ था। ढलाई खुले सांचों में होती थी और तापानुशीतन तकनीक का भी इन लोगों को ज्ञान था। परंतु सैंधवों की सी विकसित तकनीकों का ज्ञान इन्हें नहीं था।

ताम्र-संचय संस्कृति के ताम्र उपकरणों में धातु मिश्रण के निश्चित आसार नहीं हैं। यह लोग बंद सांचों में शुद्ध ताम्र की भी ढलाई कर सकते थे। धातु प्राचुर्य में इनका स्थान केवल सैंधवों के बाद आता है।

पहले यह ताम्राश्मीय संस्कृतियां सैंधव संस्कृति से परवर्ती मानी जाती थी। परंतु कार्बन तिथिकरण ने यह दर्शाया है कि लगभग 2000-1700 ई० पू० तक के काल में परिधीय सैंधव और ताम्राश्मीय संस्कृतियां काल दृष्टि से अंतर्व्यापी थीं। बनास संस्कृति में बड़े-बड़े सामूहिक चूल्हे, दीर्घाकार इमारतें और अनेक प्रकार के मृद्भांड मिलते हैं। इन ताम्राश्मीय संस्कृतियों पर सैंधवों का बहुत हलका प्रभाव तो नजर आता है, लेकिन सैंधव परंपरा का आकस्मिक अंत बहुत स्पष्ट है। हो सकता है कि बनास और कायथा संस्कृति के लोग आर्य आक्रामक रहे हों। यह तो निश्चित ही है कि उनकी संस्कृति पर पश्चिमी एशिया का बहुत स्पष्ट प्रभाव था। ये संस्कृतियां कभी नागरीकरण प्राप्त न कर सकीं, जिसका कारण हमारे विचार से पारिस्थितकीय अवरोध था। संकरे जलोढ मैदान अतिरिक्त कृषि उत्पादन के लिए पर्याप्त नहीं थे।

III ताम्र-संचय संस्कृति

ताम्र-संचय धातु उपकरण काफी प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। इनका क्षेत्र मुख्यत: गंगा की घाटी और उड़ीसा व चंबल का प्रदेश है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संस्कृति में सिंहभूम के ताम्र अयस्क भंडारों का उपयोग होने लगा था। ताम्र-संचय संस्कृति का प्रादुर्भाव संभवत: छोटा नागपुर के जंगली पठार में हुआ। वहां पर सादी, चपटी कुल्हाड़ियां और छड़-कुल्हाड़ियां पायी जाती हैं। छड़-कुल्हाड़ियों का उपयोग संभवत: अयस्क खदान में होता था। अब दक्षिण-पूर्वी एशिया में विकसित धातु कर्म का प्रारंभ 2300 ई० पू० तक माना जाता है। इसलिए ताम्र-संचय संस्कृति का उद्भव दक्षिणी पूर्वी एशिया के प्रभावों के अंतर्गत भी हो सकता है। वैसे सभी परिस्थितियां स्वतंत्र धातु-कर्म के प्रादुर्भाव के लिए इस क्षेत्र में ताम्र-संचय संस्कृति के लिए विद्यमान थीं।

इनके उपकरण आखेट के लिए बहुत उपयुक्त जान पड़ते हैं। मानवाकृति चिड़ियों पर फेंक कर मारने के लिए, शृंगिकाकार-तलवारें बड़े जानवरों को गढ़ों में भगा कर मारने के लिए और मत्स्य भाले मछली मारने के लिए बहुत उपयुक्त थे। दोआब के प्राचीन घने जंगलों को काटने के लिए कुल्हाड़ियों का उपयोग होता होगा। यह आश्चर्यजनक है कि न तो इस संस्कृति के कोई आवासी टीले न ही किसी प्रकार के पात्र मिलते हैं। संपूर्ण उपकरण एक घायावर, शिकारी आदिम जाति की संस्कृति का आभास देते हैं।

ताम्र-संचय अकसर गेरुवे भांड संस्कृति के साथ जोड़े जाते हैं। पहली बार अब सेपाई से कुछ ताम्र-संचय उपकरण एक लाल स्लिप वाले भांडों के साथ

मिले हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, गेरुवे भांडों की तिथि 1800-1400 ई० पू० ताप संदीप्तिक तिथिकरण के अनुसार निश्चित की गयी है।

IV लौह युगीन संस्कृतियां

सबसे पहले हम विभिन्न लौह कालीन संस्कृतियों के कालानुक्रम देंगे।

(क) स्वात कब्रें (गालीगाई काल V)—लगभग 1000 ई० पू० (कार्बन तिथि)

(ख) बलूची संगोरा कब्रें-लगभग 900-800 तक (पुरातात्विक)

(ग) पिराक लौह काल-लगभग 800 ई० पू० (कार्बन तिथि)

(घ) चित्रित धूसर मृत्भांड लगभग 800-350 ई० पू० (कार्बन तिथि)

(ङ) एन० बी० पी० भांड-लगभग 550-50 ई० पू० (कार्बन तिथि)

(च) काले-लाल भांड-लगभग 700 ई० पू० (कार्बन तिथि)

(छ) दक्षिणी लौह काल का प्रारंभ-लगभग 1000 ई० पू० (कार्बन तिथि)

(ज) विदर्भ लौह काल का प्रारंभ-लगभग 600 ई० पू० (कार्बन तिथि)

(झ) महाश्म-लगभग 1000-100 ई० पू० (कार्बन तिथि)

लौह धातु करण का प्रसार हिट्टाइट साम्राज्य के विघटन के बाद लगभग 1200 ई० पू० प्रारंभ होता है। ईरान में पहले पहल लोहा निक्रोपोलीस A में मिलता है। परंतु इसका प्राचुर्य स्यालक निक्रोपोलीस B में ही दिखता है। स्यालक B की तिथि गिर्शमान के अनुसार 900 ई० पू० है। स्वात घाटी में लोहा 1000 ई० पू० से प्रकट होने लगता है। पिराक में 800 ई० पू० काफी लोहा मिलता है। उत्तर पश्चिम की संगोरा कब्रों से भी काफी लोहा मिला है। इनकी स्यालक B से सादृश्यता के कारण 900-800 ई० पू० तिथि मानी गई है।

राजस्थान में चित्रित धूसर भांड 800 ई० पू० प्रकट होते हैं। दोआब के दूसरे छोर में सोनपुर, चिरांद और महिषदल में भी लौह काल का प्रादुर्भाव 700 ई० पू० हुआ। परंतु दक्षिण से केवल हल्लुर से 1000 ई० पू० की तिथि है। इस प्रकार उत्तरी भारत में लौह कर्म का प्रसार संभवतः उत्तर पश्चिम के भू-मार्ग से हुआ होगा। परंतु शायद दक्षिण में सामुद्रिक संपर्क द्वारा।

चित्रित धूसर-भांड की अधिक प्राचीनता नये प्रमाणों के आधार पर तर्क-संगत नहीं लगती है। इसका तिथिकरण 1200 ई० पू० ठहराना तर्कों के विपरीत जाता है। इसका काल प्रसार आठवीं से चौथी शताब्दी ई० पू० ही माना जा सकता है। दोआब में चित्रित धूसर भांड संस्कृति के लोगों ने जंगलों

को साफ़ करके कृषि उत्पादन का धीरे-धीरे विस्तार किया। परंतु नागरीकरण एन० बी० पी० संस्कृति की ही देन है। जब बिहार के प्रशस्त लौह भंडारों का उपयोग दोआब के घने जंगलों में कृषि उत्पादन के लिए हुआ तो प्रचुर अतिरिक्त उत्पादन ने दोआब के नागरीकरण को लगभग चौथी तीसरी सदी ई० पू० संभव बनाया।

महाश्मों का मुख्य क्षेत्र दक्षिण में है, परंतु ये आसाम से हिमाचल प्रदेश तक कहीं-कहीं पर पाये जाते हैं। प्राप्त पुरातात्त्विक सामग्री के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि महाश्मीय संस्कृति का संचरण दक्षिण से विदर्भ होता हुआ उत्तर प्रदेश में हुआ।

सारांश

पिछले अध्यायों में हमने विभिन्न पुरैतिहासिक संस्कृतियों के अवशेषों, तकनीकी ज्ञान, धातु प्राचुर्य और कालानुक्रम का विवेचन उनके पारिस्थितिकीय परिवेश में किया। भारतवर्ष में एक ही काल में, विभिन्न क्षेत्रों में तरह-तरह की संस्कृतियाँ पनपीं और फली फूलीं। विभिन्न क्षेत्रों का सामाजिक एवं आर्थिक विकास की गतियाँ भिन्न थीं, हमने यह भी देखा कि संस्कृतियों के विकास और ह्रास में पारिस्थितिकी और तकनीकी ज्ञान का कितना महत्वपूर्ण योग होता है। भारत में अब इस प्रकार के पुरातात्त्विक अध्ययनों के लिए बहुमुखी और बहु-आयामीय अनुसंधानों की आवश्यकता है। आज विभिन्न भारतीय वैज्ञानिक केन्द्रों में अधुनातन तकनीकें प्राप्त हैं जिनका पुरातात्विक अध्ययनों के लिए बहुत व्यापक प्रयोग हो सकता है। यह विशद कार्य कुछ व्यक्तियों के वश का नहीं, बल्कि किसी प्रगतिवादी, प्रबुद्ध संस्थान के लिए ही संभव है। हम यह आशा करते हैं कि हमारा यह प्रयास नयी और पुरानी दोनों पीढ़ियों को इस आवश्यकता का आभास करायेगा।



परिशिष्ट

कार्बन तिथियों की विश्वसनीयता

इधर हाल की खोजों से ऐसा प्रतीत होता है कि कार्बन तिथियों में संभवतः कुछ संशोधन की आवश्यकता पड़े। वृक्ष-काल विज्ञान (dendrochronology) पर आधारित तिथियों और कार्बन तिथियों की तुलना करने पर अपसारिता (divergence) का आभास होता है। हर साल वृक्षों के तनों में एक वलय (ring) बढ़ता जाता है। कैलिफोर्निया के पर्वतों पर कुछ वृक्ष ऐसे हैं जो चार-पाँच हजार साल तक जीवित रहते हैं, उदाहरणार्थ ब्रिसलकोन चीड़, सिकोया आदि। इन वृक्षों के तनें काटकर वृक्ष-वलय (tree ring) गिने गये और इस प्रकार वृक्ष-काल विज्ञान के आधार पर उनका तिथि निर्धारण किया गया। ऐसे वलय निकाल कर जब उनका कार्बन तिथिकरण किया गया तो उनमें परस्पर अपसारिता दृष्टिगोचर हुई। इस खोज के आधार पर इस अपसारिता की गणना की गयी और तदनुसार कार्बन तिथियों में संशोधनार्थ समीकरण सुझाये गये। परिशिष्ट तालिका 1 में हमने विभिन्न वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत समीकरण दिये हैं और उनका प्रभाव सैंधव काल-विस्तार (कार्बन आधारित) पर दर्शाया है। कुछ अमरीकी पुराविद् आजकल "मास्का-फैक्टर" (तालिका 1) लगाकर कार्बन तिथियाँ प्रकाशित करते हैं।

अग्रवाल ने मिस्र की सुनिश्चित पुरातात्त्विक सामग्री पर आधारित दूसरी व तीसरी सहस्राब्दी की कार्बन तिथियों को उनके संशोधित रूपों और पुरातात्त्विक तिथियों से तुलना करने पर पाया कि वृक्ष-काल निर्धारित तिथियाँ, पुरातात्त्विक तिथियों से कहीं पूर्ववर्ती हैं। इस तथ्य से यह आवश्यक हो जाता है कि वृक्ष-वलयों की और बारीकी से जाँच की जाय। चूँकि सारे वृक्ष-वलय कैलिफोर्निया के 10,000 फुट ऊँचे पर्वतों के वृक्षों से लिये गये हैं, कुछ विद्वानों का विचार है कि इस ऊँचाई पर कार्बन-14 के प्राकृतिक उत्पादन में अंतर हो सकता है जो काल-गणना में प्रतिलक्षित होता है। वृक्ष-वलय प्रत्येक वर्ष बनते हैं और फिर

वृक्ष के उपापचय (metabolism) में भाग नहीं लेते। परंतु हाल के अनुसंधानों से ज्ञात हुआ है कि अनेक प्रक्रियाएँ हैं जो इस काल-अपसारिता को जन्म दे सकती हैं, जैसे आंतरिक कोशिका रस, काष्ट-विदूषण, जीसे आदि का त्रिज्य-संचरण (radial diffusion) आदि। 1954 के बाद आणविक-विस्फोटों के कारण वातावरण में अप्राकृतिक न्यूट्रनों द्वारा जनित कार्बन-14, 1963 में दुगना हो गया था। यदि त्रिज्य-संचरण न होता तो यह विस्फोट-जनित कार्बन-14, 1954 से पुराने वृक्ष-वलयों में नहीं होना चाहिए। परंतु यह 1954 से पहले के वलयों में भी पाया जाता है जिसका अर्थ हुआ कि त्रिज्य-संचरण वृक्ष-वलयों के बनने के बाद तक होता रहता है। इस प्रकार वृक्ष-वलयों का कार्बन-तिथियों की विश्वसनीयता जाँचने के लिए विशेष महत्व नहीं रह जाता।

अभी तक की खोजों से प्रतीत होता है कि 2000 ई० पू० तक की कार्बन व पुरातात्त्विक तिथियाँ परस्पर संगत हैं। उसके बाद 2000-2500 ई० पू० तक कुछ संशोधन की आवश्यकता प्रतीत होती है क्योंकि कार्बन-तिथियाँ पुरातात्त्विक तिथियों से कुछ परवर्ती लगती हैं। परंतु आवश्यकता इस बात की है कि ईराक और मिस्र के सुनिश्चित पुरातात्त्विक स्तरों से विश्वसनीय नमूनों का काल-निर्धारण करके इस बात का पता लगाया जाय कि अपसारिता यदि है तो कितनी है। तदनुसार ही संशोधन-समीकरण प्रस्तुत किये जायँ। इस अवस्था में कार्बन-तिथियों का संशोधन विभ्रामक होगा। अभी अनेक अनिश्चितताएँ हैं जिनका हल पहले होना चाहिए। तब तक कार्बन तिथियों (अर्धायु 5730 वर्ष पर आधारित) को असंशोधित रूप में ही प्रयोग करना चाहिए। "मास्का फैक्टर" आदि लगाने से सैंधव संस्कृति का मोहनजोदड़ो में अंत 2400 से 2800 ई० पू० होता है जो असंभव है। अक्काड के सार्गन और ईसिन-लार्सा काल के सैंधव संस्कृति के 2300-2000 ई० पू० के संपर्क अकाट्य हैं।

इस प्रकार हमारे विचार से अगले दशक तक रेडियो कार्बन तिथियों का अपना संवत् माना जाय और उन्हें संशोधित न किया जाय न ग्रिगरी (ईसाई) संवत् (Gregorian Calender) से मिलाया जाय। अगले 8-10 साल में आधारभूत समस्याएँ हल हो जायँगी और हम अधिक सुदृढ़ आधार पर संशोधन समीकरण, यदि आवश्यक हुई तो, प्रस्तुत करेंगे।

परिशिष्ट तालिका 1

$C = 1.4 \quad R = 1100$ ···(1)

$C = 1.4 \quad R = 900$ ···(2)

$C = 1{\cdot}26\,R - 700$ ···(3)

$C = 112 + 0.152 \times 10^{-3}R^2 - 0.138 \times 10^{-7}R^3$ ···(4)

$C = R + 350$ (2099-1700) ई०पू० काल के लिए
&
$C = R + 450$ (2499-2100) ई०पू० काल के लिए···(5) } MASCA FACTOR

(C = संशोधित तिथि R = कार्बन तिथि)

संशोधित काल-विस्तार-आधार	(1)	2900-2480 ई०पू०
संशोधित काल-विस्तार-आधार	(2)	3100-2680 ई०पू०
संशोधित काल-विस्तार-आधार	(3)	2705-2327 ई०पू०
संशोधित काल-विस्तार-आधार	(4)	2750-2400 ई०पू०
संशोधित काल-विस्तार-आधार	(5)	2750-2350 ई०पू०
असंशोधित काल-विस्तार		2300-2000 ई०पू०
पुरातात्विक काल-विस्तार		2350-1900 ई०पू०

यदि हम सैंधव संस्कृति के मोहनजोदड़ो के काल-विस्तार पर उक्त समीकरण संशोधनार्थ प्रयुक्त करें, तो उपर्युक्त काल-विस्तार प्राप्त होते हैं। स्पष्ट है कि असंशोधित कार्बन तिथियाँ पुरातात्विक काल-विस्तार के निकटतम हैं।

परिशिष्ट : संदर्भिका

समीकरण 1 के लिए :

Stuiver, M. and Suess, H. E., 1966, on the Relationship. Between Radiocarbon 'dates and True Sample Age's, Radiocarbon. Vol. 8, pp. 534-540.

समीकरण 2 के लिए :

Stuiver, M., 1967, Origin and Extent of Atmospheric C 14 Variations during the past 10,000 years, in 'Radiocarbon Dating and Methods of Law-Level Coguting, Vienna, Int. At. Energy Agency, pp. 27 40.

समीकरण 3 के लिए :

Stuiver, M., 1970, Long Term C 14 Variations, in 'Radio-carbon Variation and Absolute Chronology,' Ed. Olsson, I. U., 197-213.

समीकरण 4 के लिए :

Wendland, W. M., Donley, D. L., 1971. Radiocarbon—Calender Age Relationship, 'Earth and Planetary Science Letters,' Vol. 11, pp. 135-159.

समीकरण 5 के लिए :

Michael, H. W. and Ralph, E. K., 1970, Correction Factors Applied to Egyptian 'Radiocarbon dates from Era Before Christ. in 'Radiocarbon Variation and Absolute Chronology,' (Ed.). Olsson, I. U., pp. 109-120.

अन्य संबंधित ग्रंथ व लेख :

Agrawal, D. P., 1971, 'The Copper-Bronze Age in India,' Munshiram Manoharlal, New Delhi.

Berger, R , 1970, Ancient Egyptain Radiocarbon Chronology, 'Phil. Trans. Roy. Soc. Lond.' A. Vol. 269, pp. 23 56.

Collis, J., 1971, Thoughts on Radiocarbon Dating, in Machie, J., Collis, J., Ewer, D. W., Smith, A., Suess, H. and Renfrew, C., 'Antiquity,' Vol. 45, pp. 200-201.

Jansen, H. S., 1970, Secular Variation of Radiocarbon in Newzealand and Australian Trees, in 'Radiocarbon Variation and Absolute Chronology,' (Ed.) Olsson, I. U., pp 261-274.

Olsson, I. U., Klasson, M. and Abd. Mageed, A, 1972, Uppsala Natural Radiocarbon Measurements XI, 'Radiocarbon,' Vol. 14 (1), pp. 247-271.

Walton, A. and Boxter, M. S., 1968, Calibration of the Radiocarbon time scale, 'Nature,' Vol. 220, pp. 475-476.

शब्दावली

अ

अंगार-शलाका	Poker
अंगूठे के नख से उत्कीर्ण मृद्भांड	Thumb nail incised pottery
अतिनूतन	Pliocene
अधिकेन्द्र	Epicentre
अनगढ़	Coarse
—भांड	Coarse ware
—पत्थर	Rubble
अन्त्येष्टि कलश	Funerary vase
—पात्र	Funerary pot
अंतर्नत किनारा	Inverted rim
अंतर्वर्ती	Intermediate
—क्षेत्र	Transitional zone
अंतर्वेधी	Intrusive
अनलंकृत	Plain
—लाल मृद्भांड	Plain Red ware
अन्वेषक	Explorer
अननुमेय	Unpredictable
अनुष्ठान	Ritual
अपकर्ष	Degeneater
अपचयन	Reduction
अपरदन करना	Erode
अपशिष्ट शल्क	Waste flake
अपक्षरण	Weathering

अपसारिता, अपसरण	Divergence
अपेक्षित अलगाव का क्षेत्र	Area of relative isolation
अभ्रक	Mica
अभ्रकी	Micaceous
डिजाइन	Motif
अयस्क	Ore
—मल	Slag
अर्धचंद्राकार	Crescent shape
अर्ध यायावर	Semi nomadic
—शुष्क	Semi arid
अलगाव का क्षेत्र	Area of isolation
अल्प मूल्य रत्न	Semi precious stone
अलंकरण	Decoration
अवक्रमण	Devolution
अवठ किनारा	Rim
अवशेष	Remains
अवस्था	Stage
अस्तरीय	Unstratified
असादृश्यमूलक डिजाइन	Non-representational
अस्थि कलश	Urn
—भंग शवाधान	Fractional burial
अक्षीय नलिका	Axial tube
आंकड़े	Data
आक्साइड	Oxide
आड़ी (जाली)	Cross hatched
आघातवर्ध्यता	Malleability
आदिम	Primeval
आधारभूत सामग्री	Basic data
आरेख	Figure
आवास	Habitat
आवासी इमारत	Residential building

इ

इतर	Non
—हड़प्पा	Non-Harappa

उ

उत्कीर्ण	Incise
—अलंकरण	Incise decoration
उत्खनक	Excavator
उत्खनन	Excavation
उत्तर	Post
उद्‌गतहनुता	Prognathy
उर्ध्वस्थ	Vertical
उपकरण	Implement
उपनिवेशन	Colonisation
उपापचय	Metabolism

ऋ

ऋतुप्रवास	Trans humance

ए

एंटिमनी	Antimony
एन. बी. पी. मृद्‌भांड	N. B. P. ware
ऐरेंटाइन मृद्‌भांड	Arretine ware
एलाबास्टर	Alabaster

औ

औजार	Tool

क

कच्ची ईंट	Mud brick
कट्टम कट्टे	Criss cross
कड़ा	Bangle
कब्रगाह	Cemetry
करकेतन	Chalcidony
कलपुंछ	Gazelle
काचली मिट्टी	Faience

काचित भांड	Glazed ware
कांटेदार तलवार	Hooked sword
काल	Period
काल अनुक्रम	Period sequence
काल दोष	Anachronism
काला और दूधिया मृद्भांड	Black and cream ware
कालानुक्रम	Chronology
कालानुक्रमिक अभिलेख	Chronological record
काली कपासी मिट्टी	Black cotton soil
काली स्लिप पर लाल भूरा मृद्भांड	Red brownlon dark slip
काले पर लाल मृद्भांड	Red on black ware
किलेबन्दी	Fortification
कुल्हड़	Goblet
कुल्हाड़ी	Axe
कुल्हाड़ी-बसूला	Axe-adze
कूटक	Pounder
कूबड़वाला सांड	Humped bull
केन्द्रीय क्षेत्र	Nuclear region
केवेलिन	Keolen
कैंची बेग आक्सीकृत मृद्भांड	Kechi Beg Oxidised ware
कैंची बेग काले स्लिप पर सफेद मृद्भांड	Kechi Beg white-on-dark Slip ware
कैंची बेग बहुरंगी मृद्भांड	Kechi Beg Polychrome ware
कैंची बेग लाल मृद्भांड	Kechl Beg red ware
कोर/किनारा	Rim
क्रोड	Core
क्रेस्टेड गाइडेडरिज	Crested guiced ridge
क्वेटा अभ्रकी मृद्भांड	Quetta Micaceous ware
—आर्द्र मृद्भांड	Quetta wet ware
—पांडु पर काला मृद्भांड	Quetta black on buff ware
क्षरण	Erosion
—चक्र	Erosion circle

ख	
खंड/पट्ट	Panel
खनिज	Mineral
—शिरा	Mineral vein
खाँचेदार फलक	Notched blade
खान/खदान	Mine
खानेदार मोहर	Compartmental seal
ग	
गढ़न	Moulding
गढ़ना (तपाकर)	Forge
गदासिर/गदाशीर्ष	Mace-head
गर्तवृत्त	Pit circle
गरूड़ीय नाक	Acqaitine nose
घ	
घिसा कुल्हाड़ा	Ground-celt
घीया पत्थर	Soap stone
घोंघा	Zootecus insularis
च	
चक्र	Disc
चक्र मनके	Disc bead
चकमक	Flint
—कल्फर उपकरण	Flint implement
—औजार	Flint tool
—कटार	Flint dagger
चक्रिक मनके	Whirl bead
चमकदार बर्तन	Glazed ware
चमकाना	Burnish
चमकाया लाल	Burnished red
चमकीला लाल मृद्भांड	Lustrus red ware
चर्ट	Chert
—के पतले फलक	Chert ribben flak
—फलक	Chert-blade

चिनाई	Masonry
चित्र वल्लरी	Frienze
चित्रित धूसर मृद्भांड	Painted grey ware
चूड़ी	Bangle
चूना पत्थर	Lime stone
चूनेदार मिट्टी	Calcareous clay
छ	
छड़-कुल्हाड़ी	Bar-celt
छल्ला/वलय	Ring
छल्लाकार आधार वाले कटोरे	Ring based bowl
छिद्रित बर्तन	Perforated vessel
ज	
जंगली शीशम	Dalbergia sissoo
जड़ना/जमाना	Encrusted
जनजातीय	Tribal
जमाये हुए अलंकरणयुक्त भांड	Applique decorated ware
ज्यामितिक डिजाइन	Geometric design
जरदोज़ी का काम	Filigree work
जल-निकास-व्यवस्था	Drainage system
जलोढ़क	Alluvial
ज्वारनद मुख	Estuary
जालायित विन्यास	Trellis-pattern
जाली का काम	Lattice work
ट	
टीला	Mound
टेकदार कुल्हाड़ी	Trunnion axe
टोंटीदार नलीवाला	Channelled spout
ठ	
ठीकरा	Sherd
ड	
ढ़कदार गेंद	Sling ball
डालराइट	Dolerite

ढ

ढलाई	Casting

त

तकनीक	Technique
तकनीकी	Technical
तन्यता	Ductility
तनेवाले कटोरे	Stemmed bowl
तर्कु चक्कर	Spindle whorl
तल/स्तर	Level
तापानुशीतन	Annealing
तापसंदीप्ति	Thermoluminescence
तामड़ा पत्थर	Carnelian
ताम्र युग	Copper age
ताम्र संचय	Copper hoard
ताम्राश्मीय	Chalcolithic
तालिका	Table
त्रि-भरी	Chevron
—अस्थि	Chevron bone
त्रिज्य संचरण	Radial diffusion

थ

थाली	Dish

द

दहन की गयी हड्डियाँ	Cremated bones
दाँतेदार फलक	Serrated blade
द्विरंगी	Bichrome
—परंपरा	Bichrome tradition
दीर्घीकरण	Elongation
दुर्ग	Citadel
दूधिया मृद्भांड	Cream ware

ध

धातु कर्म	Metallurgy
—कर्म संबंधी	Metallurgical

धातु कर्मी	Metallurgist
—प्रगलन	Smelting
—मल	Slag
—मिश्रण	Alloy
न	
नखाकार	Scalloped
नतिलंबी भ्रंश	Strike fault
नमूना	Sample
नवाश्म उपकरण	Neolith
नवाश्मीय	Neolithic
नाकेदार सूई	Eyed needle
नागरीकरण	Urbanisation
नालीदार (चषक या तश्तरी)	Corrugated
नितंबी स्तन	Pendulous breast
निरपेक्ष	Absolute
निर्मृद भांड	Aceramic
निवासी	Inhabitant
निक्षारित	Etched
—आकृति	Etched figure
निक्षेप	Deposit
प	
पंजवई दूधिया सतही मृद्भांड	Panjawai cream surface
पट्ट/खंड	Panel
पट्टा/पट्टी	Band
परकोटा	Rampart
पर्णाकार फलक	Leaf blade
— बाणाग्र	Leaf shaped arrow-head
परत	Layer
परंपरा	Tradition
परवर्ती	Latter
परस्पर व्याप्त अतिव्याप्त	Overlapping
परिष्कृत स्लिप मृद्भांड	Fine slip ware

पश्चप्रवण	Rceding
पसलीदार	Ribbed
पांडु	Buff
—स्लिप पर काला मृद्भांड	Black on buff slip ware
—पर चाकलेटी मृद्भांड	Chocolate-on-buff ware
—गुलाबी लाल मृद्भांड	Orange red-on buff ware
—स्लिप मृद्भांड	Buff slip ware
पारिस्थितिकी	Ecology
पाश	Loop
पिंड	Cake
पुरातत्व	Archaeology
पुराविद	Archaeologist
पुरैतिहासिक	Proto-historic
पुलिन	Beach
पूर्व राजवंश	Pre-Dynasty
पूर्व हड़प्पा	Pre-Harappa
पेस्ट	Paste
पोलिंग	Poling
प्रकार	Mode
प्रकाल	Phase
प्रतिरूप	Pattern
प्रतीक	Symbol
प्रमाण	Evidence
प्रवाणित किनारा	Bevelled rim
प्रस्तर पात्र	Stone ware
प्रसार	Diffusion
प्राकृत अयस्क	Native ore
प्राकृतिक तल	Natural soil
प्रागहड़प्पा	Proto-Harappa
प्राग्मृद्भांड	Pre pottery
प्रागैतिहासिक	Pre-history
प्रौढ़ सैंधव	Mature Harappa

फ

फलक	Blade

ब

बढ़ती हुई शुष्कन	Progressive desiccation
बनत/डिजाइन	Design
बनत खंड	Design panel
बस्ती	Settlement
बहिर्वेशन	Extarpolation
बहुरंगी परंपरा	Multi colour tradition/
——	Poly chrom tradition
बहुस्तरीय	Multi-level
बहंगी	Yoke
बाँध	Gabar band
बाढ़ निर्मित मैदान	Flood plain
बादली पत्थर	Agate
बालुकाश्म	Sand stone
बाहर निकली गोल आँख	Goggle eye
बुर्ज	Bastion
बेलनाकार	Cylindrical
बेसाल्ट	Basalt
बोला पत्थर	Bola stone
ब्रिनेल	Brinell

भ

भंगुर	Brittle
भंडार	Repertory
भांड	Ware
भालाग्र	Arrow head
भौतिक रचना	Physiography

म

मंडूरी रंग	Ferruginous colour
मत्स्य कांटा	Fish hook
—भाला	Harpoon

मध्यनूतन	Miocene
मध्याश्म युगीन हथियार	Middle stone age tool
मनका	Bead
मर्तबान	Jar
मरगोल	Voluted
महाश्मीय	Megalithic
मानक	Standard
—विचलन	Standard deviation
मानकीकरण	Standardization
मानवाकृति	Anthropomorph
मानुस मोखा	Man-hole
मियां घुंडई पांडु मृद्भांड	Mian Ghundai buff ware
मुस्तफा मृदुकृत मृद्भांड	Mustafa temper ware
मूषाएँ	Crucibles
मृण्मूर्ति	Terracotta
मृद्भांड	Pottery
मृत्पिंड	Terracotta-cake
मृत्तिका-शिल्प	Ceramic
मैवंड-लाल-सतह मृद्भांड	Maiwand red surface ware
मोड़दार (कफोणि) फलक	Elbow blade
मोहर	Seal
य	
यायावर	Nomad
र	
रांगा	Nickel
रासायनिक विश्लेषण	Chemical analysis
रीढ़दार कटार	Dagger with mid rib
—डांसवाली कटार	Tanged dagger with mid rib
—फलक	Mid ribbed blade
रूढ़िबद्ध	Conventional
—भू-दृश्य	Formalised land scape
रूपांतरण	Transformation

रूलेटेड मृद्भांड	Rouletted ware
रेखाच्छादन	Hatching
रेखांकित	Graffitti
रेडियो कार्बन तिथि	Radio carbon date

ल

लघु-अश्म	Microlith
—उद्योग	Microlithic industry
लहरदार अलंकरण	Wave decoration
लहरिया	Wavy lines
लक्षण	Character
लाजवर्द	Lapis lazuli
दूधिये पर काला मृद्भांड	Black on cream ware
लाल पर लाल तकनीक	Red on red technique
—स्लिप मृद्भांड	Red slipped ware
लुप्त मोम	Lost wax
लोहमय	Ferruginous
—बालुकाश्म	Ferruginous sand stone
लौलिंगाइट	Lollingite
लौह-युग	Iron age

व

वर्तुलाकार	Circular
वली रेतीला मृद्भांड	Wali sand ware
वास स्थान	Habitation
वाणाग्र	Arrow-head
विवर्तनीय उत्थान	Tectonic uplift
विशाल स्नानागार	Great bath
विशिष्ट संस्कृति	Distinct culture
विशेषता	Characteristic
विस्तारित शवाधान	Extended burial
वृक्ष काल विज्ञान	Dendrochronology
—वलय	Tree-ring

श

शतरंजी पट्ट	Chequor band
शल्क	Flake
—फलक	Flake blade
शवपेटिका	Sarcophagus
शवाधान	Inhumation
शवोपासना	Funerary cult

शिल्प	Craft
—कार/शिल्पी	Crafts-man
—कारिता	Craftmanship
—वैज्ञानिक	Technologist
शिलाखंड/गोलाश्म	Boulder
शिविर	Camp
शुष्कन	Desiccation
शृंगिकाकार तलवार	Antennae sword

स

संखिया	Arsenic
संग्रहालय	Museum
संगोरा	Cairn
—शवाधान	Cairn burial
संचयन पात्र	Storage vessel
संचारण	Transmission
संदूषित	Contaminate
संपिष्टमृद्/घुटी हुई मिट्टी	Levigated clay
संरचना	Structure
सकेन्द्रित	Concentric
सपिंडन	Consolidation
सपीठ थाली	Dish-on-stand
सभ्यता	Civilisation
समतल	Horizental
सम्मिश्र	Complex
सरलरेखी	Rectilinear
सहस्त्राब्दि	Millenium
सांख्यकीय	Statistical
सांड	Bull
सांचा	Mould
सांस्कृतिक समरसता	Cultural uniformity
—संचय	Cultural assemblage
सादृश्य	Affinity
सादात एकरेखी मृद्भांड	Sadat single line ware
साधार/कटोरा	Pedestalled bowl
साहुल पिंड	Plumb bobs
सिंदूरी मृद्भांड	Scarlet ware
सिंधु	Indus
सिल-बट्टा	Saddle quern
सिलिका	Silica

सिस्ट (पत्थर का ताबूत)	Cist
सीसा	Lead
सुराही	Carafe
सूती	Fresh water mussel
सेलखड़ी	Steatite
सैंधव	Harappan
स्कंधित कुल्हाड़ी	Shouldered celt
स्तर	Level
स्तरण	Stratification
स्तर प्रमाण	Stratigraphical-evidence
स्थल	Site
स्थानांतर	Migration
स्लिप	Slip
स्पेक्ट्रमी	Spectroscopic
स्फटिक	Quartz
स्फोटगर्ती चट्टान	Vesicular rock
स्रोत	Source
ह	
हड्डी की नोक (बेधनी)	Bone point
हत्थे के लिए छेदवाली कुल्हाड़ी	Shaft hole axe
हत्थेदार कटोरा	Bowl with handle
—चषक	Handled cup
हथौड़ियाना	Hammer
हरताल	Orpiment
हस्त निर्मित मृद्‌भांड	Hand made pottery

शब्दावली संदर्भिका

S. J. C. Bulcke — An English-Hindi Dictionary, 1971 (Ranchi).

Standing commission for scientific and Technical Terminology. — Science Glossary, 1964 New Delhi.

Standing commission for scientific and Technical Terminology — Humanities Glossary I, 1966 New Delhi.

पुराविदों द्वारा प्रचलित तकनीकी शब्द भी प्रयुक्त किये गये ।

